ध्वनि-सिद्धान्त और व्यंजनावृत्ति : विवेचन :

[आगरा विश्वविद्यालय से स्वीकृत शोध ग्रन्थ का अंश]

लेखक

डा० गयाप्रसाद उपाध्याय शास्त्री,
एम० ए०, पी-एच० डी०

रीडर अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
एस० आर० के० कॉलेज, फिरोजाबाद, आगरा

प्रकाशक

सरस्वती पुस्तक सदन
मोती कटरा, आगरा-३

[१५०]

○ प्रकाशक
प्रतापचन्द जैसवाल

© संचालक
सरस्वती पुस्तक सदन, मोतीकटरा, आगरा-३

○ प्रथम संस्करण
१००० प्रतियां, १९७०

○ अधिकृत विक्रेता
पुस्तक विक्री केन्द्र,
९/१४९ मोतीकटरा-३

○ मुद्रक
प० पूरनचन्द पाराशर
पाराशर प्रिंटिंग प्रेस धूलियागंज आगरा-१

समर्पण

प्रत्यूपा जननी तथा पिता रेयतीराम।
सुकृति देखि निज पुत्र की हो प्रफुल्ल सुर-धाम॥

—गयाप्रसाद

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

ध्वनि का व्यावहारिक परिचय

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

द्वितीय अध्याय

तृतीय अध्याय

ध्वनि का व्यावहारिक परिचय

लेखक की ओर से

प्रस्तुत ग्रन्थ मेरे शोध प्रबन्ध 'ध्वनि सिद्धान्त तथा हिन्दी के प्रमुख रीतिकालीन आचार्य' मे समाविष्ट ध्वनि के सिद्धान्त-पक्ष का सग्रह है। उल्लिखित शोध प्रबन्ध आगरा विश्वविद्यालय की ओर से सन् १९६४ मे पी एच० डी० की उपाधि के लिए स्वीकृत हुआ था।

स्वीकृत शोध प्रबन्ध के दो भाग थे ध्वनि का सिद्धान्त पक्ष और रीतिकालीन आचार्यों द्वारा विवेचित ध्वनि एव उनके उदाहरणो की समीक्षा। जिन रीतिकालीन आचार्यों के रीति ग्रन्थों के ध्वनि भाग की विवेचना शोध प्रबन्ध का मुख्य विषय थी उनके नाम ये हैं (१) चिन्तामणि, (२) कुलपति (३) देव (४) कुमारमणि, (५) श्रीपति, (६) सोमनाथ, (७) भिखारीदास, (८) हरिचरणदास, (९) रतन कवि, (१०) जनराज, (११) जगतसिंह, (१२) प्रतापसिंह। इनके अतिरिक्त श्रीधरानन्द, घनीराम और लछिराम का सक्षिप्त उल्लेख परिशिष्ट मे दिया गया है। इनमें आचार्य हरिचरणदास तो ऐसे आचार्य हैं जिनके नाम और कृतियो को हिन्दी ससार पूर्णरूपेण भुला चुका था।

सम्पूर्ण शोध प्रबन्ध का कलवर बडा और रीतिकालीन आचार्यों के आलोचना सिद्धान्तो के प्रति हिन्दी जगत की उपेक्षा होने के कारण प्रकाशक ने सिद्धान्त पक्ष को ही प्रकाशित करने का निर्णय किया। सम्पूर्ण प्रबन्ध के प्रकाशित होने की सम्भावना अभी भी भविष्य का प्रसग है।

'ध्वनि सिद्धान्त सस्कृत आलोचना शास्त्र का अत्यन्त प्रौढ सिद्धान्त है। अपने उद्भव के दिन से आजतक सवग्राही काव्य सिद्धान्त बना हुआ है। समय समय पर आविर्भूत होने वाले रस सिद्धान्त, अलकार सिद्धान्त रीति सिद्धान्त वक्रोक्ति सिद्धान्त और औचित्य सिद्धान्त को इसने इस प्रकार आत्मसात् कर लिया कि सभी सिद्धान्तो का एक काव्य सिद्धान्त मे समन्वय हो गया और उनकी अपनी अपनी विशेषतायें और काव्य स्थितियाँ भी यथावत् बनी रही। जिसका भूत इतना महान् है उसका भविष्य भी कम उज्वल नहीं है। बहुत सम्भव है, भविष्य मे अन्य भाषाओ मे भी इस सिद्धान्त की पहुँच हो जाय। जो काव्य सिद्धान्त इतना महान और प्रौढ है वह तो हिन्दी द्वारा स्वीकरणीय है ही।

फलत प्रकाशक भाई प्रतापचन्द जसवाल ने प्रबन्ध में विकीर्ण इसके सिद्धान्त पक्ष का सग्रह प्रकाशित करने का प्रयत्न उचित ही है।

शोध प्रबन्ध की रूप रेखा विश्वविद्यालय भेजने के पूर्व ही इस विषय के सिद्धान्त पक्ष से सम्बद्ध एक शोध प्रबन्ध 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त लेखक डा० भोलाशकर व्यास, एम० ए०, पी एच० डी०, डी० लिट प्रवक्ता काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, छप चुका था। किन्तु दोनो प्रबन्धो मे निम्न मौलिक विशेषतायें हैं

१—उपर्युक्त प्रबन्ध मे ध्वनि सिद्धान्त' के अन्तगत शब्द शक्तिया का ही विवेचन है। वही प्रबन्ध का प्रमुख विषय है। इस प्रबन्ध के प्रथम अध्याय म ध्वनि का पूर्व रीतिकालीन विकास भी

सन्निविष्ट है जिससे 'ध्वनि' के ऐतिहासिक विकास पर प्रकाश पडता है। यह 'ध्वनि विकास क्रम भी चार भागो मे विभक्त है। १—पूर्व ध्वनिकाल मे अलकार विवेचन मे व्यग्यार्थ की स्थिति, २—ध्वनि सिद्धान्त का स्वरूप और उसके भेद, ३—उसका विरोध और ४—ध्वनि का समर्थन और उसकी प्रतिष्ठा। यह इस सग्रह की उपयुक्त प्रबन्ध से पहली विशेषता है।

२—डा० व्यास के शोध प्रबन्ध मे यद्यपि व्यजना का विवेचन प्रमुख है, परन्तु उसमे अन्य शब्द शक्तियो का विवेचन भी स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसके दूसरी ओर, इस ग्रन्थ में ध्वन्यालोक की भाँति केवल व्यजना शक्ति का ही निरूपण है, अन्य शब्द शक्तियों का नामोल्लेख तो प्रासगिक ही है।

३—दोनो प्रबन्धों मे प्रतिपादन की थोडी समानता होन पर भी कई सद्धान्तिक विभिन्नतायें हैं। सक्षेप मे वे ये हैं उपयुक्त प्रबन्ध मे मम्मट के अनुसार लक्षणा के पद गत भेद ही स्वीकृत हैं, परन्तु इस ग्रन्थ मे विश्वनाथ की भाँति पदगत और वाक्यगत दोनो भेद। डा० व्यास ने अभिनव और मम्मट के अनुसार अभिधामूला शाब्दी व्यजना क अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यजना से मानी है लेकिन इसमे दोनो अर्थों की प्रतीति श्लेष की भाति दो अभिधाओ से मानी गई है। अर्थात् अभिधामूला शाब्दी व्यजना प्रसग में होने वाली अलकार प्रतिभा व्यजना से होती है। यह मान्यता आनन्द वर्धन की है। इस प्रबन्ध मे शब्द शक्तिमूल वस्तुध्वनि को ध्वन्यालोक कार के अनुसार मान्यता दी गई है जबकि उसमे मम्मट के मत को समर्थन मिला है। 'ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त मे काव्य विभाजन मम्मट के आधार पर किया गया है जबकि इस ग्रन्थ में रस गगाधरकार जगन्नाथ के आधार पर। इनके अतिरिक्त दो एक स्थल और हैं जहाँ दोनो प्रबन्धो मे सैद्धान्तिक मतभेद उपलब्ध होगा। ये सद्धान्तिक मतभेद दोनो ग्रन्थो की मौलिक भिन्नता है।

जसा कि ऊपर लिखा जा चुका है यह ग्रन्थ उल्लिखित शोध प्रबन्ध के सैद्धान्तिक पक्ष का सग्रह है। फिर भी सद्धान्तिक पक्ष व्यावहारिक पक्ष के अभाव म अधिक लाभकर सिद्ध न होता इसलिए इसमें ध्वनि' के व्यावहारिक पक्ष भी सक्षिप्त कर जोड दिया गया है। इस प्रकार पूरा ग्रन्थ तीन अध्यायो मे विभक्त है (१) ध्वनि का ऐतिहासिक विकास क्रम (२) ध्वनि सिद्धान्त और उसके भेद (३) ध्वनि का व्यावहारिक परिचय। ध्वनि के व्यावहारिक परिचय के पुन तीन भाग कर दिये गये हैं व्यजना वृत्ति और उसके उदाहरण (२) ध्वनि-काव्य और उसके भेदोपभेद सोदाहरण तथा गुणीभूत व्यग्य का सोदाहरण विवेचन। आवश्यक उदाहरणो का सग्रह रीतिकाल के आचार्यों से किया गया है। उदाहरण चयन मधुकरी वृत्ति से औचित्य और सगति के आधार पर हुआ है।

विषय की गम्भीरता के कारण प्रबन्ध को प्रस्तुत करने मे अधिक समय लगा। सस्कृत काव्यशास्त्र के मौलिक ग्रन्थों से जूझ जूझ कर उनके मर्म तक पहुँचने का कार्य, समय की अपेक्षा रखता है। सस्कृत के अधिकारी विद्वानो मे एक अद्भुत प्रवृत्ति के दर्शन होते हैं। वे अपने ही अन्तेवासियो को अपना ज्ञान-दीप सुलभ करते हैं, अन्यो को ज्ञान सागर की गहराई नापने का इच्छुक मानकर शास्त्रार्थ को ललकार देते हैं और फिर 'मघवामूल विडौजा टीका' जो सूत्रपात होता है उसमे खो जाने के भय से सरल जिज्ञासु को भागना पडता है। लेखक को काशी, खुरजा और जयपुर मे ऐसे ही अवसर आये हैं। इसलिए ग्रन्थ स्थलो पर अकेले ही जूझना पड़ा है।

बनेश फलेन पुनरुक्तता विधत्ते' वाले कथन पर ध्यान देकर आज इस बात की प्रसन्नता है कि अन्ततोगत्वा विषय से सम्बद्ध कई ग्रन्थियाँ सुलझी और 'ध्वनि सिद्धान्त' की ग्रन्थ परम्परा पुन एक नवीन शास्त्रीय मोड पर उपस्थित हुआ है।

हमारा विश्वास है कि इस रूप में यह ग्रन्थ हिन्दी के उन पाठकों को जो संस्कृत के काव्यशास्त्र सागर के अतल से रत्न पाने के इच्छुक हैं बहुत दूर तक सहायक सिद्ध होगा। संस्कृत काव्य शास्त्र की रत्नाकरता हमारी शपथों से सिद्ध करने का विषय नहीं है।

ग्रन्थ के सुधी पाठकों से निवेदन है कि वे अपनी विप्रतिपत्तियों से अवश्य सूचित करें। यदि यह ग्रन्थ किसी की जिज्ञासा को शान्त कर सका, किसी की जिज्ञासा में वृद्धि कर सका, किसी की विप्रतिपत्ति जाग्रत कर सका तो लेखक अपने श्रम को सफल समझेगा।

प्रबन्ध का विषय गम्भीर है और सामग्री अस्पष्ट लक्ष्य। इसमें अनेक व्यक्तियों ने अपने रूप में सहायता पहुँचाई है। लेखक उन सभी का हृदय से आभारी है। विशेषतः श्रीकृष्ण किशोर द्विवेदी टीकमगढ़, स्वर्गीय ब्रजकिशोर मिश्र लखनऊ श्री ब्रजमोहन जावलिया, सरस्वती भवन, पुस्तकालय उदयपुर, श्री कृष्णचन्द्र शास्त्री, हिन्दी विद्यापीठ, उदयपुर, डा० मुनिकान्त सागर, उदयपुर, डा० मायाशंकर याज्ञिक, लखनऊ, श्री सुधाकर पाण्डेय, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, आदि के सहज और स्नेह सिक्त सहयोग के लिए हार्दिक कृतज्ञता प्रकट करने के पश्चात भी हृदय उनके आभार से उऋण नहीं होता।

डा० सरयूप्रसाद अग्रवाल, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ जिस विश्वास और धैर्य के साथ प्रबन्ध का पथ प्रदर्शन किया है उसको प्रकट करने में शब्द ओछे पड़ते हैं। डाक्टर साहब के सौहार्द एवं सौजन्य के प्रति मैं कृतज्ञता ज्ञापन करने में असमर्थ हूँ। परन्तु इसके अतिरिक्त मुझ अकिंचन के पास कुछ है भी तो नहीं।

इसको प्रस्तुत करने में मेरे मित्रों का भी कम सहयोग नहीं है। कुछ के मीठे खट्टे उपालम्भ कार्य करने में मुझे सतत प्रणोदित करते रहे हैं। उन सभी के नामों का मानसिक स्मरण कर उनके प्रति भी अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना पवित्र कर्तव्य समझता हूँ।

इस प्रबन्ध को इस रूप में प्रकाशित करने का श्रेय भाई प्रतापचन्द्र जसवाल को है। उनके सहयोग के बिना यह सिद्धान्त पक्ष संग्रह भी कदाचित सुधीर पाठकों के कर कमलों में न पहुँच पाता, अतः उनके प्रति आभार प्रदर्शन मेरा कर्तव्य है।

—गयाप्रसाद उपाध्याय

प्रथम अध्याय

रीतिकाल के पूर्व ध्वनि का क्रमिक विकास

१

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति समाम्नातपूर्व —ध्वन्यालोक

ध्वनि के विभिन्न अर्थ—'ध्वनि' का साधारण अर्थ शब्द अथवा आवाज है। ससार मे यह सयोग और विभाग दो कारणों से उत्पन्न होकर कर्णेन्द्रिय द्वारा ग्रहण किया जाता है। भर्तृहरि ने इस प्रकार के शब्द को शब्दज माना है।[1] शब्दज शब्द का प्रत्यक्ष अनुभव घटानुरणन मे होता है। घटे के बज चुकने के पश्चात भी उसमें एक प्रकार की झकार होती रहती है। यही शब्दज शब्द का स्वरूप होता है। इसी अनुरणन की भाति ही सहृदय को वाच्यार्थ के पश्चात् व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है इसलिये व्यग्यार्थ को भी 'ध्वनि' नाम से अभिहित किया गया है।

लौकिक 'ध्वनि' दो प्रकार की होती है—प्राकृत और वैकृत। प्राकृत ध्वनि को ही अक्षर कहते हैं। यही प्राकृत ध्वनि भिन्न व्यक्तियो, शुक आदि पक्षियों द्वारा अस्वाभाविक रूप मे उच्चरित होकर भिन्न भिन्न प्रकार की जान पडती है। यही वकृत ध्वनि है। वकृत ध्वनि के भेद होते हुये भी प्राकृत ध्वनियों म भेद नही होता है। जिस प्रकार अनेक वैकृत ध्वनियो से एक ही प्राकृत ध्वनि का बोध होता है उसी प्रकार वयाकरणो के अनुसार प्राकृत ध्वनियो से एक एव अखड स्फोट का बोध होता है। ये अन्त्यबुद्धिनिर्ग्राह्य प्राकृत ध्वनिया स्फोट की व्यजक मानी जाती हैं। इस आधार पर भी काव्यशास्त्री व्यग्यार्थ के व्यजक शब्द और अर्थ को 'ध्वनि' नाम देते हैं।

कभी कभी एक ही शब्द दो व्यक्तियो द्वारा उच्चरित होता है। यही शब्द शुक, सारिका पक्षिया के द्वारा भी उच्चरित होता है। इन सभी दशाओ मे शब्द की प्राकृत ध्वनियाँ अपरिवर्तित रहती हैं। दोनो व्यक्तियो मे से एक तुतलाकर बोलता है और दूसरा बहुत शीघ्र बोलता है। इस लिये तुतलाने वाला व्यक्ति शब्द का उच्चारण देर से करता है और शीघ्र भाषी उसी शब्द का उच्चारण शीघ्र करता है। पक्षी उन्ही प्राकृत ध्वनियो का उच्चारण अस्पष्ट रूप से करते हैं। एक अन्य बीमार व्यक्ति बहुत मन्द ध्वनि से उच्चारण करता है। इन स्थितियो म यह भी सभावना है कि वैकृत ध्वनिया की अस्पष्टता, और मन्द-स्वरता के कारण प्राकृत शब्द का बोध ही न हो। परन्तु यदि प्राकृत शब्द का बोध होगा तो पूर्ण और स्फुट बोध होगा।[3] वयाकरण उच्चारण की इस प्रक्रिया को भी 'ध्वनि' सज्ञा प्रदान करते हैं। इसी आधार पर ध्वनिवादियो द्वारा प्रसिद्ध उच्चारण अभिधेयादि से अधिक अर्थ का प्रत्यायन कराने वाली वृत्तिको भी 'ध्वनि' सज्ञा प्रदान की

---

१ य सयागवियोगाभ्या करणैरुपजन्यते ।
स स्फोट शब्दजा शब्दा ध्वनयो ऽन्यैरुदाहृता ॥ लोचन पृ० ५५

२ तेन व्यजको शब्दार्थवपोह ध्वनिशब्देनोक्तौ । - लोचन, पृ० ५५

३ अल्पायसाठि यत्नेन शब्दमुच्चारित मति ।
यदिवानैव गृह्णाति वर्ण वा सकल स्फुटम् ॥
—भर्तृहरि, लोचन, पृ० ५६

जाती है।[1] इस प्रकार ध्वनि के कई अर्थ किये जाते हैं।

काव्य में व्यंग्यार्थ का स्थान —

जो व्यंग्यार्थ बुद्धिप्रदेश में अनुस्वानरूप से उत्पन्न होता है वह कविकृत काव्य से ही जागृत होता है। वह कवि के मानस की ही तरंग है जो शब्दों के सूत्रों के सहारे पाठक के मानस में झूलती है। 'अपारे काव्यसंसारे कविरेव प्रजापतिः' —कवि ही प्रजापति की भाँति स्वसृष्ट काव्य-विश्व को मनोवांछित रूप देता है। कवि के भावों और विचारों को सम्प्रेषणीय बनाने में काव्य माध्यम का काम देता है। फलतः वह व्यंग्यार्थ काव्य के विन्यास में ही समाहित रहता है। जिस प्रकार किसी मदनाविष्ट रमणी के सुन्दर अवयवों से लावण्य फूटता हुआ प्रतीत होता है उसी प्रकार यह व्यंग्य अर्थ भी काव्य से व्यक्त होता है। परन्तु जिस प्रकार अंगनागत लावण्य उसके शरीर अवयवों में समाहित रहता हुआ भी उनसे नितान्त भिन्न है उसी प्रकार यह भी काव्य के प्रसिद्ध अंगों से झलकता हुआ भी अन्य ही पदार्थ है।[2] साथ ही जिस प्रकार अंगना लावण्य अवयवों से ही व्यक्त होता है, अवयव ही उस लावण्य की प्रतीति के साधन हैं उसी प्रकार काव्य ही व्यंग्यार्थ का साधन है। इस आधार पर काव्य को भी ध्वनि संज्ञा प्रदान की जाती है।[3]

यह व्यंग्य अर्थ ही काव्य की आत्मा है। काव्यगत समस्त चमत्कार इसी से सम्बन्धित हैं। इस अर्थ की अपेक्षा काव्य के शब्दार्थ गौण हैं।[4] यह कभी तो रस स्वरूप होता है और कभी वस्तु एवं अलंकार स्वरूप। रस रूप में यह ध्वनि को आत्मा माना जाता है।[5] रस चित्तवृत्ति रूप है और वस्तु और अलंकार बौद्धिक ज्ञान रूप। चित्तवृत्ति किसी स्थिति में वाच्य नहीं हो सकती है। जब साधारण सुख दुख वाच्य नहीं होते तो चित्तवृत्ति का वाच्यत्व तो सर्वथा बहुत दूर है। यह ही काव्य का चरम लावण्य है। इस काव्य लावण्य की ओर काव्यशास्त्रियों की दृष्टि तो गई परन्तु सिद्धान्त रूप में उसका सम्यक विवेचन आनन्दवर्धन से पूर्व न हो सका।

आनन्दवर्धन के पूर्व ध्वनि की स्थिति —

आनन्दवर्धन ने ही सर्व प्रथम काव्य शास्त्र में ध्वनि सिद्धान्त की प्रतिष्ठा की। उसके पूर्ववर्ती काल में काव्य शास्त्रीय सिद्धान्तों पर विचार विमर्श अवश्य हुआ और रस, अलंकार, रीति आदि सिद्धान्त भी अवतरित हुये। ध्वन्यालोक में ध्वनि की पूर्वस्थिति एवं अनुपस्थिति दोनों का

---

१ तत्र तावत्स्वेवश्रूयमाणेषु वक्त्र्यौ यो द्रुतविलम्बादिवृत्तिभेदात्मा
प्रसिद्धा दुच्चारणव्यापारादभ्यधिक स ध्वनिरुक्त।
यदाह स एव शब्दस्योच्चमभिव्यक्तौ वृत्तिभेदे तु वक्तृता
ध्वनय समुपोह्यन्ते, स्फोटात्मा तैन भिद्यते।
— लोचन पृ० ५६

२ प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्त विभाति लावण्यमिवांगनासु॥ ध्व० १ ४

३ व्यक्त काव्यविशेष स ध्वनिरिति सूरिभि कथित। ध्व० १ १३

४ ध्व०, १-१३

५ वही, २-२

उल्लेख है। प्रथम कारिका की वृत्ति मे उन्होने स्वीकार किया कि काव्य ममज्ञो ने काव्य के आत्म-भूत तत्व को ध्वनि नाम दिया है और परम्परा से बार-बार प्रकाशित किया है।[1] शब्द और अर्थ की सहकारिता से व्यक्त इस अर्थ से सम्पन्न काव्य को काव्यतत्वार्थदर्शी विद्वानो ने ध्वनि कहा है।[2] उक्त आशय को स्पष्ट करने के लिये ध्वन्यालोककार ने भूतकालिक क्रिया का प्रयोग किया है। इससे स्पष्ट है कि ध्वनि पूर्ववर्तीकाल मे काव्यशास्त्री उस चमत्कार तक पहुच चुके थे, जिसको ध्वन्यालोक मे ध्वनि नाम प्रदान किया गया है। परन्तु इसी ग्रन्थ म कारिका एव वृत्ति दोनो में यह भी असन्दिग्ध पदो मे उल्लेख है कि ध्वनि पूर्वकाल मे न तो लक्षणकारो को इस सिद्धान्त का पता था, न इसकी प्रसिद्धि ही थी और न उनकी सूक्ष्म बुद्धि इसके उद्घाटन करने मे ही समर्थ हुई थी।[3] इसके अतिरिक्त रीति का लक्षण करने वाले वामनादि को जो ध्वनिकार के पूर्ववर्ती हैं, यह ध्वनि रूप काव्यतत्व थोडा थोडा स्फुरित हुआ था। वे केवल व्याख्या करने म असमर्थ रहे।[4] ध्वन्यालोक म ही ये परस्पर विरोधी उल्लेख प्राप्त होते है। अतएव इनकी सगति स्थापित करना आवश्यक है।

ध्वन्यालोककार ने ग्रथ के प्रारम्भ में ध्वनि—अभाववादियो के विकल्पो की कल्पना की है। उनमे एक विकल्प यह है कि प्रसिद्ध प्रस्थानो सिद्धान्तो मे ध्वनि का नाम नही सुना जाता है। अभी तक गुण, अलकार ही काव्य सिद्धान्त प्रसिद्ध हैं। यदि ध्वनिमार्ग इन प्रसिद्ध सिद्धान्तो के अतिरिक्त कोई मार्ग है तो उसम काव्य हानि होगी। पूर्व पक्षवालो के इस विकल्प का उत्तर देते हुये ग्रन्थ-कार ने लिखा कि यह ध्वनिमार्ग केवल लक्षणकारो को ही प्रसिद्ध नही था,[5] वे ही इसको नही जानते थे। यदि जानते होते, तो इसका लक्षण अवश्य करते। परन्तु लक्षण की अप्रसिद्धि में सिद्धान्त अथवा वस्तु का अभाव सिद्ध नही होता है। पूर्ववर्ती लक्ष्य—ग्रन्थो को परीक्षा करने पर यही

---

१ बुध काव्यतत्वविद्भि, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति सज्ञित, परम्परया य
समाम्नातपूर्व सम्यक् आसमन्तात्, भात प्रकटित।
ध्वन्यलोक प्रथम कारिका की वृत्ति।

२ स ध्वनिरिति सूरिभि कथित। ध्वन्यालोक, १–१३
सूरिभे काव्यतत्वार्थदर्शिभि ध्वनिरित्युक्त। ध्वन्या०, १ १३ वृत्ति भाग

३ अ यतो लक्षणकृतामेव स केवल न प्रसिद्ध। ध्वन्या०, १–१३ का वृत्ति भाग
ब अणीयसीभिश्चिरतन काव्यलक्ष्मविधायिना बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्।
ध्वन्या, १–१ का वृत्तिभाग
स सततमविदितसतत्व। ध्वन्या०, ३ ३४

४ अस्फुटस्फुरित काव्यतत्वमेतद्यथोदितम्।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तु रीतय सम्प्रवर्तिता। ध्वन्या०, ३ ४७
रीतिलक्षणविधायिना हि काव्यतत्वमेतदस्फुटतया मनाक स्फुरितमासीत।
ध्वन्या०, ३ ४७ की वृत्ति

५ यतो लक्षणकृतामेव स केवल न प्रसिद्ध
ध्वन्या०, १–१३ की वृत्ति

भामह के काव्य अलंकार में ध्वनि संकेत —

लक्षण ग्रन्थों की क्रमिक परम्परा मे नाट्यशास्त्र के पश्चात् भामह का काव्यालंकार ही उपलब्ध लक्षण-ग्रन्थ है। इन दोनों आचार्यों के मध्य में काव्यालोचन पर विचार अवश्य ही हुआ होगा। स्वयं काव्यालंकार में मेधावी, रामशर्मा, शाखवद्धन के नामों का उल्लेख है। रामशर्मा के 'अच्युतोत्तर' नामक ग्रन्थ का भी नाम इसमें है।[1] परन्तु ग्रन्थ ग्रन्थो की अप्राप्ति मे अगत्या नाट्यशास्त्र के पश्चात् काव्यालंकार का ही क्रमिक स्थान मानना पडेगा।

भामह अलंकार-पद्धति के आचार्य हैं। काव्यशास्त्र की विचार विमर्श परम्परा मे इस ग्रन्थ का अनुपम मूल्य है। उद्भट, वामन, आनन्दवर्धन और मम्मट आदि आचार्य इसके ऋणी हैं। अभिधेयार्थ की सुन्दर व्याख्या इसमे उपलब्ध होती है।[2] भामह अभिधावादी आचार्य हैं। परन्तु भामह ऐसे अभिधावादी नहीं हैं जो व्यंजना का विरोध करें। अपितु उनके ग्रन्थ मे ध्वनि के स्पष्ट संकेत मिलते हैं।

काव्यालंकार मे व्यंग्यार्थ अथवा ध्वनि के प्रतिपादन मे प्रयुक्त होने वाली पदावली का बाहुल्य है। साथ में यह भी निश्चित है कि भामह जैसे स्वतन्त्र विचारक एवं स्पष्ट वक्ता आचार्य ने अपने शब्दों का अर्थ जानकर ही प्रयोग किया है। प्रतिवस्तूपमा के लक्षण मे गुण साम्य प्रतीतितः,[3] अर्थान्तरन्यास मे 'अयमर्थान्तरन्यासः सुतरां व्यज्यते',[4] समासोक्ति मे यत्रोक्ते गम्यतेऽन्योऽर्थः[5] एवं वक्रोक्ति 'अनयार्थो विभाव्यते'[6] इत्यादि ऐसी पदावली हैं जिसमें वाच्येतर अर्थ की प्रतीति (व्यंजना) की ओर स्पष्ट संकेत है। अर्थात् इन उदाहरणों मे प्रयुक्त 'प्रतीतितः' 'व्यज्यते' 'गम्यते' और 'विभाव्यते' ऐसे पद हैं जो व्यंजना के प्रसंग मे ही प्रयुक्त होते हैं और कई विद्वानों ने भामह की इस पदावली को व्यंग्यार्थ सूचक स्वीकार भी किया है।[7] लोचनकार तो 'विभाव्यते' का अर्थ 'रसमयी क्रियते' से लेते हैं।[8]

इस पदावली के अतिरिक्त काव्यालंकार के लक्षणों से उद्धरण भी यथेष्ट संख्या में संकलित किये जा सकते हैं जिनमें वाच्यार्थ से भिन्न किसी अतिशयवान् वक्र, गुरु, विशेष आदि विशेषणों से विशिष्ट अर्थ की ओर संकेत विद्यमान हैं।

नितान्त आदि शब्दमात्र (प्रयोग) से वाणी मे सौंदर्य नहीं हो पाता है। वक्र-शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी का काम्य अलंकार है।[9] वाणी मे 'वक्रार्थशब्दोक्ति' ही अलंकार जनक

---

१ प्रहेलिका समाख्याता रामशर्माच्युतोत्तरे। भामह काव्यालंकार, २—१९
२ काव्यालंकार, ६—७—१५
३ विशेषेण च भाव्यते रसमयीक्रियते इति।
—लोचन, पृ० २६०
४ काव्यालंकार, २—३४
५ वही, २—७९
६ वही, २—८५
७ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३७२
८ विशेषण च भाव्यते रसमयी क्रियते इति। लोचन पृ० २६०
९ न नितान्तादिमात्रेण जायते चारुता गिराम्।
वक्राभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा वाचामलंकृतिः। काव्यालंकार १—३६

नोट—इसका अनुवाद डा० सत्यदेव चौधरी ने भा० का० की परम्परा मे थोड़ा भिन्न किया है। उनके अनुवाद से हमारे अभीष्ट की विशेष पुष्टि होती है। उनका अनुवाद यह है कि 'नितान्त आदि शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति से ही वाणी सौष्ठव नहीं हो जाता।' शेष ऊपर की भांति। इस अनुवाद मे शब्दों द्वारा व्यक्त अतिशयोक्ति पद समूह विचारणीय है।

होती है।[1] हेतु, सूक्ष्म लेश को अलकार स्वीकार नही किया जाता क्योंकि उनमें वक्रोक्ति का समावेश नहीं होता है।[2] इससे यह स्पष्ट हो गया कि आचार्य न वक्र कथन म ही अलकारता मानी है और उसके अभाव मे हेतु आदि अलकारो को अलकार नही माना है। वक्रकथन साधारण वाच्य मे भिन्न है। समानवस्तु के न्यास से जहा यथा, इव आदि वाचकों के अभाव मे भी गुण साम्य प्रतीति होती है उसे प्रतिवस्तूपमा कहते है।[3] स्मरण रहे ध्वन्यालोककार शब्द से अनुक्त शब्द शक्ति से आक्षिप्त अलकार को शब्दशक्त्युत्थ विवक्षितवाच्य ध्वनि स्वीकार करते हैं।[4] कृता कवि उपमालकार मे असम्भव अर्थ का निबन्धन नही करता, परन्तु अतिशयवान् अर्थ ही इष्ट है।[5] अतिशयवान् और व्यग्य एक ही अर्थ के दो नाम जान पडते हैं।

अतिशयोक्ति मे लोकातिक्रान्तगोचर वचन निमित्त होते हैं।[6] यहा पर लोकातिक्रान्त गोचर वचन से आचार्य का तात्पर्य यह है कि अतिशयोक्ति मे ऐसी शब्दावली का प्रयोग होता है जिससे लोकातिक्रान्त अर्थ (व्यग्य) का द्योतन हो। ध्वन्यालोक म भामह की अतिशयोक्ति को लेकर विचार हुआ है और अन्त म आचार्य को यह स्वीकार करना पडा है कि 'विशेष यही है कि सभी अलकार अतिशयोक्ति के विषय हो सकते हैं।'[7] इसी को सर्वालकाररूप समझना चाहिये।[8] वह गुणातिशययोग वाली सभी 'वक्रोक्ति' ही है जिससे अर्थ मे सरसता आती है। इसके बिना कोई अलकार होना ही नही। उत्प्रेक्षा के लक्षण म तो आचार्य ने वाच्य की विवक्षा का त्याग किया है। उससे उनका अभिप्राय है वाचक शब्दों का प्रयोग तो किया जाय परन्तु वाच्य की विवक्षा न रहे। इस वाच्येतर विवक्षा म लाक्षणिक अथवा व्यग्य अर्थ की ही विवक्षा हो सकती है। जिसम सामान्य (वाच्य) की विवक्षा नही होती और उपमा का थोडा योग रहता है, उसे भिन्न गुण और भिन्न क्रिया के योग से अतिशयवान् अर्थ से अन्वित रहने वाली उत्प्रेक्षा कहते हैं।[9] अन्य प्रकार द्वारा किया गया कथन ही पर्यायोक्त होता है।[10] यहाँ पर यह कहना अत्यन्त आवश्यक एव प्रासगिक है कि आचार्य भामह का पर्यायोक्त लक्षण व्यग्य

---

१ वाचावक्रार्थ शब्दोक्तिरलकाराय कल्पते। वही, ५—६६

२ हेतुश्च सूक्ष्मो लेशोऽथ नालकारतया मत ।
समुदायाऽभिधानस्यऽवक्रोक्त्यनभिधानत । काव्यालकार, २ ८६

३ समानवस्तुन्यासेन प्रतिवस्तूपमोच्यते। यथैवानभिधानेऽपि गुणसाम्यप्रतीतित ।
—वही, २ ३४

४ ध्वन्यालोक, २ २२

५ तत्रासम्भविनार्थेन क कुर्यादुपमा कृती । २ ४६
यस्यातिशयवनार्थ कथ सोऽसम्भवो मत । २ ५०

६ निमित्ततो वचो यत्तु लोकातिक्रान्तगोचरम्। २ ८१

७ अतिशयोक्तिस्तु सर्वालकार विषयोऽपिसम्भवतोत्यय विशेष । ध्व०, ३ ३७ की वृत्ति

८ सव सर्वालकाररूपा—ध्वन्या, ३ ३७ वृत्ति।

९ अविवक्षितसामान्या किंचिच्चोपमया सह ।
अतद्गुण क्रिया योगादुत्प्रेक्षातिशयान्विता ॥ काव्यालकार, २—९१

१० पर्यायोक्त यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते। वही, ३—८

दशन का एक प्रधान कारण बना। इसी लक्षण पर उद्भट और मम्मट के लक्षण आधारित हैं जिनम व्यजना की स्वीकृति है। यह निश्चित है कि साक्षात् रूढ़ सकेतित-अथ म अभिधा स्वीकार करने वाला आचाय अन्य प्रकार का कथन अभिधेतर वृत्ति से स्वीकार करता है। कदाचित् मीमासकों के प्रभाव के कारण उन्होंने अभिधा वृत्ति के नामकरण की चिन्ता नही की। निदशना अलकार म यथा, इव और वत् के बिना केवल क्रिया के द्वारा ही विशेष अथ की प्रतीति होती है।[1] निदशना अलकार म प्रतीत होने वाला विशेष अथ उपमा की परिकल्पना है। यह उपमा आक्षिप्त और व्यग्य है। इसीलिये काव्यप्रकाश के टीकाकार झलकीकर ने मम्मट के लक्षणान्तगत 'उपमा परिकल्पक' पद का कल्पना का अथ व्यजना से किया है।[2] इसी प्रकार विरोध आदि अन्य अलकारों के लक्षणों म अभिधेय से अन्य अथ की स्वीकृति है।

भामह ध्वनिवादी आचाय —

उपयुक्त सभी उदाहरणों की परीक्षा करके देखा जाय तो सवत्र व्यग्याथ की ही ओर सकेत है। डा० भोलाशकर व्यास ने इन उदाहरणों से कतिपय का उल्लेख करके भामह को प्रतीयमानाथ का स्वीकार करने वाला स्वीकार किया है।[3] लोचनकार अभिनव गुप्त ने भी उपयुक्त स्थलों मे व्यग्याथ की सत्ता स्वीकार की है।[4]

ध्वन्यालोक म दो प्रकार से भामह के अलकारों की परीक्षा की गई है। एक उनका नामत उल्लेख करके और दूसरे बिना नाम के। भामह का नामोल्लेख वक्रोक्तिगमा अतिशयोक्ति के प्रसग में है। प्रथम उद्योत मे ध्वनिकार अलकारों म ध्वनि का खडन करते हुये भामह के समासोक्ति आक्षेप, विशेषोक्ति पर्यायोक्त, अपह्नुति, दीपक आदि अलकारों म व्यग्य प्रतीति स्वीकार करते है।[5] लोचनकार ने ध्वन्यालोककार की उपयुक्त मान्यता को स्पष्ट कर दिया है। 'अनुरागवती सध्या' वाला उदाहरण भामह ने समासोक्ति के उदाहरण म दिया है। इसम भी व्यग्य है। भामह के अभिप्राय को ध्यान म रखकर ही ग्रन्थकार ने यह उदाहरण ग्रहण किया है।[6] उन्होने ध्वन्यालोक की वृत्ति को स्पष्ट करने के लिये काव्यालकार की परिभाषाए और उदाहरण दिये हैं।[7] प्राय सभी अलकार अतिशयोक्ति गभ हो सकते हैं। यह अतिशयोक्ति गभता ही काव्य को अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती है। कवि की प्रतिभावश यह अतिशयोक्ति जिस अलकार म निवास करती है वही शोभातिशय प्राप्त करता है। अन्य अलकारों म यह क्षमता नही है। सभी अलकारों का रूप धारण कर सकने की सामथ्य के कारण यही अति शयोक्ति गभ वक्रोक्ति सर्वालकार स्वरूप है।

---

१ क्रियया विशिष्टस्य तदथस्योपदशनात्।
ज्ञेया निदशना नाम यथेववतिभिर्विना॥ वही ३—३३
२ कल्पन व्यजन काव्यप्रकाश-बालबोधिनी टीका पृ० ६१५
३ ध्वनि सम्प्रदाय तथा उसके सिद्धान्त, पृ० ३७२
४ लोचन, पृ० ४१—४२
५ यत्र तु प्रतीतिरस्ति। ध्वन्यालोक, पृ० ४१
६ लोचन पृ० ४४
७ वही, पृ० ४१—४६

अपने अलकार सवस्व के प्रारम्भ मे रुय्यक ने काव्य सरणियो का उल्लेख करते हुये लिखा है कि भामह और उद्भट आदि प्राचीन आलकारिक प्रतीयमान अथ को वाच्यार्थं का उपस्कारक स्वीकार करते हैं और उसे अलकार कोटि में छोड देत हैं।[१]

आचाय मम्मट भामह का नामोल्लेख करके काव्यालकार मे प्रतीयमानाथ के सकेत पर अपनी सम्मति नही देते हैं। परन्तु वह काव्यालकार के विशेष ऋणी हैं। आक्षेप, विभावना और भाविक अलकारो के लक्षण काव्य प्रकाश म काव्यालकार से ही ग्रहण किये गय हैं। काव्यालकार के पर्याय लक्षण को उन्होने उद्भट के सुधार के साथ स्वीकार किया है, जिसमे अवगमन व्यापार की शब्दत स्वीकृति है।

पडितराज न रसगगाधर मे पर्यायोक्त अलकार का उपसहार करते हुये लिखा है, 'ध्वनिकार से प्राचीन भामह एव उदभट आदि आलकारिको ने अपने ग्रन्थो मे कही भी गुणीभूत व्यग्याथ शब्दो का प्रयोग नहा किया है। केवल इसीलिये स्वीकार करना कि व ध्वनि आदि को स्वीकार नही करते, यह आधुनिक आलकारिकों का मत ठीक नहीं है। कारण, समासोक्ति, व्याजस्तुति, अप्रस्तुति, प्रशसा आदि अलकारो के निरूपण द्वारा उन्होने गुणीभूत व्यग्य के कोई भेदो का उल्लेख किया है। दूसरे उन्होने सभी व्यग्य प्रपच को पर्यायोक्त म अन्तर्भावित कर दिया है। अनुभवसिद्ध अथ को तो बालक भी अस्वीकार नही कर सकता फिर, फिर भला भामह आदि चिरतन आलकारिक प्रतीयमानाथ का सवथा निषेध कसे कर सकते थे? यह ठीक है कि उन्होने अपने ग्रन्थो म ध्वन्यादि शब्दो का व्यवहार नहा किया है। इससे उनकी ध्वनि विषयक अस्वीकृति सिद्ध नही होती है। हा, यह विचार दूसरा है कि प्रधानभूत ध्वनि रूप अलकाय को उन्होने अलकार की कोटि मे किस प्रकार अन्तर्भावित कर दिया।[२] पडितराज के इस उल्लेख से काव्यालकार म गुणीभूत-व्यग्य का निरूपण है।

आधुनिक विद्वानो म श्री सोवानी, डा० के० पी० त्रिवेदी, और डा० भोला शकर व्यास भामह को ध्वनिवादी मानते हैं। डा० सोवानी ने अपने निबन्ध 'ध्वनि के पूववर्ती अलकार सिद्धान्त' मे भामह की वक्रोक्ति और मम्मट की प्रोढोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर अथशक्त्युत्थ ध्वनि का साम्य दिखा कर उनके ध्वनिवादी होने का सकेत किया है।[३] डा० के० पी० त्रिवेदी अपने निबन्ध मे

---

१ अलकार-सवस्व, पृ० ३

२ ध्वनिकारात्प्राचीनैर्भामहोद्भटप्रभृतिभि स्वग्रन्थेषु कुत्रापि ध्वनिगुणीभूतव्यंग्यादिशब्दा न प्रयुक्ता इत्येतावतैव तैर्ध्वन्यादयो न स्वीकृयन्त इत्याधुनिकाना वाचोयुक्तिर मुक्त व। यत समासोक्तिव्याजस्तुत्यप्रस्तुतप्रशसाद्यलकारनिरूपणेन कियन्तोऽपि गुणीभूतव्यग्यभेदास्तैरप निरूपिता। अपरस्त्व सर्वोऽपि व्यग्यप्रपच पर्यायोक्तकुक्षौ निक्षिप्त नह्यनुभवसिद्धोऽर्थो बालेनाप्यपह्नोतु शक्यते। ध्वन्यादिशब्दै पर व्यवहारो न कृत। नह्येतावतानङ्गीकारो भवति। प्राधान्यादलकार्या हि ध्वनिरलकारस्य पर्यायोक्तस्य कुक्षौ कथकार निक्षिप्तामिति तु विचारान्तरम्। रसगगाधर, पृ० ५५५ ध्वनि सम्प्रदाय, पृ० ३७५

३ 'However Bhamaha's Vakrokti does appear in kavya prakash under the name of प्रौढोक्ति प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरोऽथशक्त्युत्थ ध्वनि। Bhandarkar Comm Vo

भामह की वक्रोक्ति, अतिशयोक्ति आदि की परीक्षा के पश्चात उनको पूर्ण ध्वनिवादी मानते हैं। उनके विचारो का सार यहाँ पर देना पूर्वोक्तकथन की पुनरावृत्ति होगी। उद्भट ने भामह विवरण नामक का‍यालकार की ‍यारया म शब्द‍द्वदो ऽभिधानाथ' म अभिधान की व्याख्या में 'शब्दा नामभिधा व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च लिखा है। अभिनव ने लोचन मे उद्भट के नाम से इसको उद्धत किया है। डा० त्रिवेदी का कहना है कि जब उद्भट 'अभिधानम स अभिधा व्यापार और गुणवृत्ति दोनो को ग्रहण करत हैं तो इसका उपलक्षण मानकर लक्षणा और व्य‍जना को भी ग्रहण क्यों न कर लिया जाय ?[1] डा० त्रिवेदी का यह कथन औचित्यपूर्ण है। का‍यालकार के लोका तिक्रा त गोचरवचन को ध्वनि का ही पर्याय माना जा सकता है। जिसके अभाव मे सूक्ष्म और लश को अलकार ही स्वीकार नही किया गया है। इसमे कोई स‍देह नही है कि ध्वनि के विकास मे भामह का प्रमुख स्थान है। उनके काव्यालकार म ध्वनि के स्पष्ट सकेत विद्यमान है और उनके अलकारलक्षण ध्वनि की भूमिका सिद्ध हुये हैं।

दडी का का‍यादश—

काव्यालकार क पश्चात् काव्यशास्त्र सम्ब‍धी दूसरा ग्र‍थ दडी का का‍यादश है। इस ग्र‍थ म कहीं भी श‍दशक्तियो का उल्लख नही है। का‍यालकार म कम स कम श‍दाथ सम्ब‍ध के विषय म सक्षेपत निर्णय किया गया है जिससे उस आचाय की अभिधा विषयक धारणा स्पष्ट होती है। अतएव द‍डी ध्व‍यालोक के अभाववादी विकल्प के अ‍तगत सम्मिलित होते हैं, पर‍तु काव्यादश म अभिधा के अतिरिक्त अ‍य दो श‍क्तियाँ लक्षणा, ‍यजना क सम्ब‍ध मे सकेत विद्यमान हैं।

काव्यादश की रचना स पूव का‍यालकार की रचना हो चुकी थी। का‍यशास्त्रियो को खडे होन क लिय आधार मिल चुका था। दूसरे का‍व्यशास्त्र क अतिरिक्त व्याकरण, मीमासा, ‍याय आदि मे अभिधा और लक्षणा का प्रतिपादन हो चुका था। पर‍तु का‍य का सु‍दरतम चमत्कार तो व्यजना मे निवास करता है। वही अगनागलावण्य की भाति आकर्षण का कारण है। इस समय तक इस चमत्कार की झलक आलकारिकों को दिखाई पडने लगी थी।

काव्यादश मे ध्वनि सकेत —

का‍य के लक्षण 'शरीर तावदिष्टाथ यवच्छिन्ना पदावली'[2] म 'इष्टाथ' काव्यात्मा का द्योतक है। 'इष्टाथ ही अलकार एव प्रधान है, इसी स व्यवच्छिन्न पदावली का‍यपद लाभ कर पाती है। यह 'इष्टाथ सवदा वाच्य ही नही होता वह लाक्षणिक और व्यग्य भी होता है। यह अनुभव सिद्ध है। का‍यादश के एक व्याख्या-कार रगाचाय रेडडी ने 'इष्टत्व की व्याख्या चमत्कार पूवक वर्णना भिलाप[3] स और 'अथ' की वाच्य लक्ष्य व्यगभेदेन त्रिविध[4] से की है। व्याख्याकार के

१ Should it bot be explained as
अभिधानमभिधा ‍यापार ।
उपलक्षणमिदम। तेन लक्षणा ‍यजनयोरपि ग्रहणमित्यथ । Bhandarkar comm Vol

२ का‍यादश, १ १०

३ रगाचाय रेडडी 'का‍यादश, पृ० ८ प० १५

४ वही, पृ० ९ प० ३५

अनुसार रमणीयार्थोपस्कृत[1] सुदर वाक्य ही काव्य है। रमणीयार्थोपस्कृत पद व्यग्यार्थ का समथक है।

आचाय के अनुसार 'वाचिवस्तुन्यपि रसस्थिति '[2] वाणी (शब्द) और वस्तु (अथ) में रस स्थिति होती है, पर तु शब्द और अथ का रस से सम्बध अभिधा के अतिरिक्त ही मानना होगा। सम्पूण अलकार समुदाय भी अथ म रस सिंचन करता है।[3] परन्तु अलकार का चमत्कार-जनक रस सिंचन करने वाला रूप व्यग्य ही है। आचार्य का विश्वास है कि जो अथ अविदग्धजनकथन विधि से ग्राम्यता धारण कर विरसता उत्पन्न करता है वही विदग्ध जनकथन विधि से अग्राम्य होकर रसावह हो जाता है।[4] स्पष्ट है कि अविदग्धजन कथन अभिधेय और विदग्धजन-कथन उससे भिन्न लक्ष्य व्यग्य ही होगा।

दडी ने रसवत अलकार म सभी रसों के उदाहरण देकर उनका उपसहार करते हुये लिखा है 'वाक्यस्याग्रामतायोनिर्माधुर्ये दर्शितो रस ।[5] ध्वनि के इस सिद्धान्त को रसादि की प्रतीति को कोइ भी गुणवृत्ति नही कहता है और न कह ही सकता है।[6]—पर ध्यान देते हुये योनि की व्याख्या 'व्यजिका' ही की जा सकती है। इस प्रकार दडी के मत म भी व्यजना वृत्ति की स्वीकृत सिद्ध की व्याख्या होनी है।

आचाय ने उदारता गुण का लक्षण इस प्रकार किया है, 'जिस वाक्य के प्रयोग से किसी धम के विशेष उत्कष की प्रतीति (व्यजना) हो उसे उदार गुण नाम दिया जाता है और काव्य पद्धति इसी गुण से सनाथ मानी जाती है। डा० एस० के० बेलवलकर ने काव्यादर्श के अंग्रेजी अनुवाद मे उदार एव प्रतीयते, शब्दों के अनुवाद व्यग्य परक किये हैं [7] डा० भोलाशकर ने भी इस 'प्रतीयते' पद मे व्यजना स्वीकार की है।[8] इस गुण के उदाहरण का अथ यह है कि हे देव! याचक की कृपण दृष्टि एक बार ही आपके मुख पर पडती है, उस अवस्था म उन्हें फिर भी दूसरे का मुखावलोकन नही करना पडता है। इस प्रकार इस वाक्य म त्याग का उत्कर्ष भली भाति दिखलाइ पडता है।[9] इसम स्वय उन्होने त्याग का उत्कष स्वीकार किया है। पर तु यह उत्कर्षाव बोध वाक्य का अभिधेयाथ नही है। फलत यह बोध अभिधेतर शक्ति स ही सभव है। वस्तुत 'लक्ष्यते' पद आचाय द्वारा 'व्यज्यते क' ही अथ म प्रयुक्त है।

---

१ वही, पृ० ६, प० ४०
२ काव्यादश, १ ५१
३ काम सर्वोप्यलकारो रसमर्थे निषञ्चति। का यादश, १ ६२
४ काव्यादश, १ ६३—६४
५ वही, २—२६२
६ हिन्दी ध्वन्यालोक, पृ० ३५५
७ काव्यादश का अंग्रेजी अनुवाद, पृ० ६
८ ध्वनि सम्प्रदाय, पृ० ३७३
९ अर्थिना कृपणा दृष्टिस्त्वन्मुखे पतिता सकृत।
तदवस्था पुनर्देव नान्यस्य मुखमीक्षते।
इति त्यागस्य वाक्येऽस्मिन्नुत्कर्ष साधु लक्ष्यते। का० दश, १ ७७—७८

उपमा के लक्षण म 'यथाकथचित सादृश्य यत्रोद्भूत प्रतीयते'[१] म प्रयुक्त 'प्रतीयते' पद की व्याख्या करते हुय रगाचाय ने लिखा है।' अभिधा, लक्षणा और व्यजना म से किसी एक वृत्ति क द्वारा प्रतीति होती है।[२] वस्तूपमा म साधारण धम का उल्लेख नहीं होता है अतएव दडी उसे 'प्रतीयमानकधर्मा' स्वीकार करते हैं। शब्द की अनुपस्थिति म धम की प्रतीति व्यजना से ही हो सकती है। कारण, अभिधा को पुच्छभूता लक्षणा का भी यहाँ अवकाश सम्भव नही है। अतएव प्रतीयमानकधर्मा को 'गम्यमानकधर्मा' अथवा 'व्यग्यैकधर्मा' स्वीकार कर दडी के मत मे भी व्यजना की सत्ता माननी पडेगी। इसी प्रकार प्रतिवस्तूपमा म साम्यवाचक इवादि शब्दो के अभाव में 'साम्यप्रतीति व्यजना वृत्ति से ही सम्भव होगी।[३] भाविक के लक्षण म 'व्यक्ति' पद का प्रयोग अभिव्यक्ति के अथ म किया गया है।[४]

आचाय ने उपमासूचक शब्दों की तालिका दी है जिसको रगाचाय ने उपमावाचक, उपमा लक्षक और उपमाव्यजक तीन भागो म विभक्त किया है। इनम इव, वत आदि शब्द उपमावाचक हैं, स्पर्धा करता है, जीतता है आदि उपमालक्षक हैं, क्योंकि स्पर्धा करता है आदि शब्द सादृश्य वाचक नही हैं, और 'सौभाग्य को चुराता है' आदि उपमाव्यजक हैं।[४] दूसरी बात यह कि काव्या दश म भी ये उपमा सूचक शब्द बिना किसी नामकरण के अलग अलग तीन भागो म विभक्त हैं। इसलिये रगाचाय की व्याख्या आचाय के मतानुकूल मानी जा सकती है। कारण, आचाय ने उनका उसी क्रम से उल्लेख किया है। व्यतिरेक अलकार के उदाहरणो म भी ऐसा ही क्रम रखा गया है।[५] आचाय दडी ने प्रतीयमानता वहाँ स्वीकार की है जहाँ वाचक शब्द का अभाव है।

अलकार सम्बन्धी शब्दों में व्यग्य अथ का सकेत—यों तो अलकार म प्रतीयमानाथ की निश्चित सत्ता होती है। इसके प्रतीयमानाथ के सम्बन्ध म प्राय सभी आचाय एक मत हैं। काव्यादश म उपमादि अलकारो की भाँति आक्षेप के विविध भेदो का विस्तृत वर्णन है। इनम से केवल एक उदाहरण प्रस्तुत करना यथेष्ट होगा। [illegible] जो [illegible] नायक से नायिका कहती है, हे प्रियतम। यदि जाना निश्चित ही है तो [illegible] जाओ [illegible] विषय म चिन्ता भी [illegible] उनके पश्चात् [illegible] के द्वारा पति के गमन की अनुमति से [illegible] मरण की सूचना देने वाली नायिका के द्वारा पति के गमन का निषेध कर दिया गया।[८] उपर्युक्त उदाहरण म किसी ऐसे शब्द का प्रयोग नहीं है जिससे मरण की सूचना

१ काव्यादश २—१४
२ रगाचार्य टीका पृ० ११६ पक्ति ५ 'अभिधालक्षणाव्यजनान्यतरवृत्त्याप्रतीति विषयमिति।'
३ साम्य प्रतीति
इवादि शब्दप्रयोगाभावेऽपि व्यजनया सादृश्यावबोध । रगाचार्य पृ० १४० पक्ति ४
४ रगाचार्य पृ० २६३ पक्ति २५
५ वही पृ० १२७
६ काव्यादश २—१८०
७ काव्यादर्श २—१३१
८ वही १३६

वाच्य स्वीकार की जा सके। अभिधा से तो गमन की अनुमति ही प्रतिपादित होती है परन्तु वहीं अनुमति ही आचार्य के मत मे मरण की सूचिका है और फलत अनुमति से उसके विपरीत गमननिषेध अर्थ की प्रतीति होती है। साहित्यिक जगत मे यह निषेध व्यग्य के अतिरिक्त दूसरी अन्य कोई वस्तु नही है। अन्य उदाहरणो म भी प्राय यही स्थिति है। दडी के व्याख्याकारों ने भी यहा व्यग्यार्थ की प्रतीति ही मानी है। सुयोग की बात यह है कि आचार्य ने उदाहरण देकर उसके द्वितीयार्थ व्यग्यार्थ का तदनन्तर दूसरे श्लोक मे उल्लेख कर दिया है।

नैयायिक गदाधर ने शक्तिवाद के प्रारम्भ म ही व्यजना का खडन करने के लिय इस उदाहरण का पूर्व पक्ष म उल्लेख किया है।[१] वह द्वितीय अर्थ जिसका साहित्यिक-व्यग्यार्थ मानता है का बोध किसी वृत्ति विशेष से न मानकर सहृदय की मन कल्पना ही स्वीकार करते हैं।[२] कहने का तात्पर्य यह है कि शक्तिवाद के लेखक की दृष्टि म प्रथम उदाहरण म द्वितीयार्थ व्यग्यार्थ ही है।

समासोक्ति मे व्यग्यार्थ की सत्ता रहती है। काव्यादर्श का समासोक्ति का लक्षण यह है 'किसी वस्तु उपमान अथवा उपमेय—का वर्णन अभीष्ट होने पर उसके तुल्य अन्य वस्तु—उपमेय अथवा उपमान—का वर्णन किया जाय। सक्षेप मे इसी प्रकार के कथन को समासोक्ति कहते हैं।[३] समासोक्ति म अभीष्ट का वर्णन न करके तत्तुल्य अन्य वस्तु का वर्णन किया जाता है। इससे अभीष्ट की प्रतीति होती है। इस पर व्याख्याकार का अभिमत इस प्रकार है', प्रस्तुत अथवा[३] अप्रस्तुत से किसी एक का शब्द के द्वारा प्रतिपादन करके उसके अतिरिक्त अन्य अप्रस्तुत अथवा प्रस्तुत—का व्यजना से बोध विशेष चमत्कार आधायक होता है और यही इस अलकार का बीज है। जैसा कि ध्वनिकार ने कहा है 'वाच्यार्थ का उतना आस्वादन नही होता जितना प्रतीयमान का होता है।"[४]

समासोक्ति का उदाहरण यह है, 'प्रौढा नायिका से प्रेम करने वाला कोई नायक उससे कहता है 'हे प्रिये देखो, भ्रमर पूर्ण विकसित पकज मे यथातृप्ति मधुपान करता हुआ भी अपरिपक्व सुगन्धवाली कलिका का चुम्बन करता है।[५] इसकी व्याख्या मे आचार्य दडी ने लिखा है, "यहा पर इस कथन से प्रौढा नायिका मे आबद्धरति रागी की किसी बाला म इच्छावृत्ति, सभोगेच्छा विभावित (विभाव्यते) हो रही है।[६] कवि अथवा कवि निबद्धवक्ता को उपयुक्त शब्दोपात्त वर्णन अभीष्ट नही है। अपितु यही अर्थ अभीष्ट है। परन्तु यह अर्थ अभिधेय नही है। यह तो विभावित होता है। आनन्द के मत म 'विभाव्यते का प्रयोग ('ध्वनित होता है') के लिय है।[७]

---

१ ध्वनिसिद्धान्त, पृ० ३२५
१ मनसव तादृशबोध स्वीकारात्।
२ काव्यादर्श, २—२०५
४ रगाचार्य, पृ० २१४ प० ७–६
५ काव्यादर्श, २–२०६
६ वही, २–२०७
७ रगाचार्य व्याख्या, पृ० २१७

पर्यायोक्त एक ऐसा अलंकार है जिसमें सभी आलंकारिकों ने अभिधेयेतर अर्थ की सत्ता स्वीकार की है। काव्यादर्श का पर्यायोक्त लक्षण इस प्रकार है, 'अभीष्ट अर्थ का साक्षात् (वाचक शब्द से)। वर्णन न करके, उस अभीष्ट अर्थ की सिद्धि के लिए जो प्रकारान्तर से वर्णन किया जाता है उसे पर्यायोक्त अलंकार कहते हैं। इस लक्षण की रंगाचार्य कृत व्याख्या विचारणीय है। 'प्रतिपाद्य इष्ट अर्थ का साक्षात् (वाचक शब्द) से प्रतिपादन न करके उसी इष्टार्थ की चमत्कार प्रतिपत्ति के लिये धातुव्यापार भंगिविशेष से-व्यंजना वृत्ति द्वारा द्योतन-ही पर्यायोक्त कहलाता है।' वाच्यार्थ का व्यंजना से प्रतिपादन ही पर्यायोक्त है। पर्यायोक्त में वाच्यार्थ का व्यंजना से कथन होता है और ध्वनि में वाच्य अर्थ विषय ही नहीं होता यही दोनों में भेद है।[2] तुच्छयोगिता के प्रसंग में व्याख्याकार रंगाचार्य का पर्यवसानगम्य स्वीकार करते हुए लिखते हैं, व्यंजना का वृत्तित्व तो सभी आलंकारिकों को मान्य है।[3] दंडी के अलंकारों में व्यंजना का चमत्कार सन्निहित है।

इस प्रकार आचार्य दंडी को भी भामह की भांति अलंकारों में गुणीभूत-व्यंग्य का चमत्कार तो स्पष्ट प्रतीत हुआ परन्तु वे उस प्रतीति के लिए अन्य वृत्ति की कल्पना न कर सके। वस्तुतः साहित्य में वृत्तियों-शब्द शक्तियों का विवेचन प्रारम्भ ही नहीं हुआ था। फिर भी दंडी ने अभिधेय लाक्षणिक एवं प्रतीयमानार्थ में स्पष्ट भेद किया है। अर्थ के त्रिविधत्व के संकेत काव्यादर्श में विद्यमान हैं। इनमें प्रतीयमानार्थ में उनको सर्वाधिक आकर्षण था। व्यंजना के विकास-क्रम में काव्यादर्श उच्चतर सीढ़ी है। आचार्य दंडी ने अपने उदाहरणों की व्याख्या या उल्लेख करके अधिक बहुमूल्य कार्य किया है। स्थान-स्थान की व्याख्या में जो-जो अर्थ आचार्य को अभीष्ट हैं, उनमें से अधिकतर व्यंग्य ही हैं।

वामन और उनका काव्यशास्त्र में योगदान—दंडी के पश्चात् वामन का स्थान है। यह भी पूर्व ध्वनि काल के आचार्य हैं। सर्वप्रथम काव्यात्मा की बात वामन ने कही है। यद्यपि सम्पूर्ण संस्कृत-काव्यशास्त्र पर दृष्टि डालने और काव्यशास्त्रियों का वर्ग विभाजन करने से यह देहवादी ही ठहरते हैं—ध्वनि की अपेक्षा रीति बाह्य ही है—परन्तु उनकी निर्मल शास्त्राभ्यास क्षालित अन्तर्भेदिनी दृष्टि काव्य के उस मर्म तक पहुँच चुकी थी जिसका उद्‌घाटन ध्वनिकार एवं उत्तर ध्वनिकाल के आचार्यों ने अपनी प्रखर प्रतिभा के द्वारा किया। यद्यपि उनकी अपनी दृष्टि सीमा अवश्य थी।[4]

वामन ने रीति को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।[5] अभी तक भामह एवं दंडी ने काव्य के शरीर की बात तो कही थी लेकिन उसकी आत्मा की चर्चा पहले पहल वामन ने की। उन्होंने एक दूसरा महत्वपूर्ण कार्य गुण और अलंकार में नित्य एवं अनित्य भेद स्वीकार करके किया। काव्य में गुण नित्य हैं[6] और काव्य शोभा गुणों से ही सम्पादित होती है।[7] वामन द्वारा

---

१ काव्यादर्श, २ २९५
२ रंगाचार्य—इष्ट प्रतिपादनाभिलषितम्।
३ रंगाचार्य पृ० २९३ प० २५
४ नगेन्द्र का० सू० वृ० भू० प० ६१
५ रीतिरात्मा काव्यस्य, का सू० वृ०, १—२ ६
६ पूर्वे नित्याः। का० सू० वृ० ३ १ ३
७ गुणनिवृत्या काव्यशोभा।—का० सू० वृ० ४ प्रास्ताविकम्।

स्वीकृत गुणों की सख्या घटाकर तीन मान ली गई परन्तु उनकी नित्यता विषयक मान्यता को ध्वनिवादी आचार्यों ने भी बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर लिया।

वामन का शब्द शक्ति परिचय—यह निश्चित है कि अभिधा के सम्बन्ध में वामन जैमिनीय मत के मानने वाले थे।[1] मीमासा शास्त्र मे अभिधा शब्द-शक्ति पर विशेष विचार हुआ है। न्याय एव दर्शन जगत में लक्षणा का भी प्रवेश हो चुका था।[2] इन दोनो शब्द-शक्तियो से ग्रन्थकार भलीभाँति परिचित थे और उन्होने इनका यत्रतत्र उल्लेख भी किया है परन्तु मम्मट इत्यादि आचार्यों की भाँति उनका विवेचन नही किया है।

वामन लक्षणा से भी पूर्ण परिचित जान पड़ते हैं। उन्होने वक्रोक्ति अलकार का लक्षण यह माना है, 'सादृश्य के कारण से की गई लक्षणा वक्रोक्ति अलकार मानी जाती है।[3] उसका उदाहरण यह है —

'उन्ममील कमल सरसीनां कैरवच निमिमील मुहूर्तात्'। उन्मीलन और निमीलन नेत्र धर्म हैं जो सादृश्य के कारण लक्षणा से कमल और कौरवो के विकास तथा सकोच को बोधित करते हैं। लक्षणाविद् इस प्रसग में लक्षणा के द्वारा अर्थ की शीघ्र प्रतिपत्ति स्वीकार करते हैं।[4] ये सभी अविवक्षितवाच्य ध्वनि के उदाहरण हैं। यहाँ पर लाक्षणिक अर्थ की ओर तो आचार्य का ध्यान है उसके प्रयोजन की ओर नहीं। लक्षणा के प्रयोजन में ही ध्वनि होती है। इसी को डा० नगेन्द्र ने आनन्दवर्धन की पूर्व-सूचना स्वीकार किया है।[5] यह उनकी व्यापक दृष्टि का प्रमाण है।

वामन के 'शब्द गुणों' म वर्ण ध्वनि का सकेत है, 'अर्थगुण' ओज के अन्तर्गत अर्थ-प्रौढ़ि के कई रूपों म भी ध्वनि की प्रच्छन्न स्वीकृति है। समास के भेद म केवल निमिपति कह देने से ही दिवागना का व्यक्तित्व ध्वनित हो जाता है, इसी प्रकार 'साभिप्राय विशेषण' प्रयोग मे पर्याय ध्वनि का ही प्रकारान्तर से वर्णन है। अर्थगुण कान्ति मे तो असलक्ष्यक्रम ध्वनि की प्रत्यक्ष स्वीकृति है ही।[6]

वामन के अर्थ गुणों के मूल में रस—ध्वनि का भावात्मक सौन्दर्य विद्यमान है। उनके उदारता, सौकुमार्य, समाधि और ओज के अनेक रूपो मे लक्षणा-व्यजना का चमत्कार है।[7]

---

१ तद्धि जमिनीया जानन्ति। वयन्तु लब्धसिद्धो सिद्ध परमतानुवादिन। वृत्ति, का० सू० वृ०, ५ १ १७

२ The secondary meaning became well established in the time of Amar Singh, The Journal of the University of Gohati V X 59 "A critic on India as known to Panini"

३ सादृश्यात्लक्षणा वक्रोक्ति। का० सू० वृ०, ४ ३ ८

४ लक्षणायाच झटित्यर्थप्रतिपत्तिक्षमत्व रहस्यमाचक्षत इति। का० सू० वृ०, ४ ३ ८ की वृत्ति।

५ का०सू०वृ० की हिन्दी टीका की भूमिका, पृ० २५

६ वही, भूमिका, पृ० १८४

७ नगेन्द्र का० सू० वृ० की हिन्दी टी० की भूमिका, पृ० ४६

आचार्य ने अभिधेयार्थ के दो भेद माने हैं व्यक्त और सूक्ष्म।[1] इनमें व्यक्त और स्थूल सर्व जनसवेद्य अर्थ ही है, और सूक्ष्म सहृदयमात्रसवेद्य। सूक्ष्म अर्थ के दो भेद किये गये हैं १ भाव्य और २ वासनीय।[2] भावको की अवधान रूप भावना का विषय होने से 'भाव्य' रस की कोटि का सिद्ध होता है। इसके उदाहरण में कामधेनु के टीकाकार ने पूर्णरस स्थिति सिद्ध की है।[3] वासनीय अर्थ चित्त की अत्यधिक एकाग्रता से समझ में आता है।[4] फलत इसका समावेश अविवक्षितवाच्य व्यंग्य के अन्तर्गत ही होगा। कामधेनु टीका में वासनीय अर्थ के उदाहरण में इसीलिये वस्तु ध्वनि सिद्ध की गयी है।[5] अविवक्षितवाच्यध्वनि में केवल वस्तु ध्वनि ही होती है। इसलिये व्यंग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ से आचार्य वामन को भी परिचित स्वीकार करना पड़ेगा।

उद्भट और अवगमन व्यापार—उद्भट ने काव्यालंकार सा० संग्रह ग्रन्थ की रचना की है। इस ग्रन्थ में पूर्व ग्रन्थों की भाँति काव्य का सर्वांग विवेचन नहीं है, इसलिये इसमें शब्दार्थ सम्बन्ध एवं शब्द-व्यापारों पर विचार करने का अवकाश ही नहीं था। फिर भी यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि आचार्य उद्भट काव्य की लाक्षणिक एवं व्यंग्य चारुता से भली भाँति परिचित थे। उक्त ग्रन्थ में शब्द की शक्तियों अथवा व्यापारों का स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होता है। ध्वनि के विकास-क्रम में आचार्य उद्भट का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने व्यंजना के लिये अवगमन व्यापार नाम स्वीकार (पर्यायोक्त अलंकार के लक्षण में) किया है जिसको आगे ध्वनिवादियों ने ज्यों का त्यों स्वीकार कर लिया।

भट्ट उद्भट ने भामह के काव्यालंकार पर भामह विवरण नामक टीका लिखी। यह टीका आज अनुपलब्ध है। उसका उल्लेख लोचन में प्राप्त होता है। भामह के 'शब्दश्छन्दोभिधानार्थ'[6] की व्याख्या करते हुये उन्होंने लिखा है कि 'शब्दों का अभिधान मुख्य अभिधा व्यापार और गुण वृत्ति है।[7] इससे स्पष्ट है कि यहाँ तक आते आते शब्दवृत्ति अथवा व्यापारों का विवेचन साहित्य से भी सम्बन्धित हो गया था।

उपर्युक्त ग्रन्थ के अध्ययन से पता चलता है कि आचार्य अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या से भलीभाँति परिचित थे। वामन और उद्भट दोनों समकालीन थे। वामन को इन शक्तियों का ज्ञान था। उद्भट तो उस पंडित सभा के सभापति थे जिसके वामन सदस्य थे। फलत यह निर्विवाद माना जा सकता है कि उन्हें भी इनका ज्ञान था। उन्होंने अभिधा-शक्ति के लिये रूपक की परिभाषा में श्रुत्या[8] व्याजस्तुति में 'शब्दशक्तिस्वभावेन और पर्यायोक्त में 'वाचकवृत्ति' का प्रयोग किया है। उपर्युक्त पद समूहों का अभिधापरक अर्थ उनके टीकाकार प्रतिहारेन्दुराज को भी मान्य है। लक्षणा को वह गुण वृत्ति मानते हैं, कारण, गौणी मीमांसा में अलग शक्ति मानी जाती थी।

---

१ का० सू० वृ० ३ २—६
२ वही, ३ २—१०
३ कामधेनु टी, पृ० ६१
४ एकाग्रताप्रकर्षगम्यो वासनीय इति। का० सू० वृ०, ३ २—१० की वृत्ति।
५ कामधेनु पृ० ६२
६ काव्यालंकार, पृ० १—६
७ शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो गुणवृत्तिश्च। लोचन, पृ० १२
८ श्रुतिर्निरन्तरार्थनिष्ठोऽभिधाव्यापार। लघुवृत्ति, प० १२ प० २२

रूपक के लक्षण में गुणवृत्ति का भी उल्लेख है।[1] रूपक में लक्षणा का सम्बन्ध रहता है। अतएव यह मानना कि वह लक्षणा के सहकारी हेतुओं से भी परिचित थे, युक्तियुक्त है। पर्यायोक्त के लक्षण में लक्षणा के अतिरिक्त तीन अन्य शक्तियों का उल्लेख है, जिनमें से अवगमन नामक व्यापार व्यंजना के अतिरिक्त दूसरा नहीं है। उसमें 'वाच्य वाचक वृत्तिभ्यां' पद प्रयुक्त हैं। इस पद से अवश्य ही आचार्य का मन्तव्य वाच्यवृत्ति और वाचक वृत्ति दो भिन्न वृत्तियों से है। इनमें वाचक वृत्ति तो अभिधा का ही दूसरा नाम है। वाच्य-वृत्ति से उनका तात्पर्य किस वृत्ति से था? स्पष्ट नहीं है। उनके दो टीकाकारों ने वाच्य-वृत्ति को आकांक्षा सन्निधियोग्यता से ससगगमन रूप 'तात्पर्याख्या' वृत्ति के समकक्ष स्वीकार किया है।[2]

पर्यायोक्त अलंकार का लक्षण निम्नलिखित है —

पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते ।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥[3]

इस लक्षण में तीन वृत्तियों का स्पष्ट उल्लेख है। वे ये हैं—१ वाच्य वृत्ति २ वाचक वृत्ति एवं ३ इन दोनों से भिन्न अवगम व्यापार। इनमें वाचक-वृत्ति अभिधा और वाच्य वृत्ति तात्पर्याख्या वृत्ति है। फलतः अवगम व्यापार व्यंजना ही निश्चित होता है। अभिनवगुप्त, प्रतिहारेन्दुराज और मम्मट के अनेक टीकाकारों ने इसको व्यंजना-व्यापार ही स्वीकार किया है।[4] अभिधा, तात्पर्य और लक्षणा से भिन्न चौथा व्यापार यही है जिसको ध्वनन, द्योतन, व्यंजन, प्रत्यायन, अवगमन, आदि नामों से पुकारा जाता है।[5] यही कारण है कि प्रतीहारेन्दुराज को पर्यायोक्त अलंकार में समस्त ध्वनि प्रपंच का अन्तर्भाव करने का साहस हुआ। इस अवगमन-व्यापार को लक्षणा भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है क्योंकि आचार्य लक्षणा के सहकारी हेतुओं से भली भाँति परिचित थे। उन्होंने रूपकादि अलंकारों के स्वरचित लक्षणों में अभिधा लक्षणा, तात्पर्य और व्यंजना को भी स्थान दिया है। समासोक्ति, आक्षेप, विनोक्ति, पर्यायोक्त,, अपह्नुति आदि अलंकारों में व्यंग्य का समावेश रहता है, इस तथ्य को आचार्य उद्भट ने भलीभाँति पहिचाना, और इसीलिये ध्वनिकार ने अलंकार सन्निविष्ट व्यंग्य से ध्वनि को भिन्न सिद्ध करके अलंकार सन्निविष्ट व्यंग्य से

---

१ गुणवृत्तिप्रधानेन युज्यते रूपकं तत् । काव्यालंकार सार संग्रह, १—११

२ अ वाचक वृत्ति रभिधा विवृत्ति ।
ब वाचकस्य भिधायकस्या स्वशब्दस्य वृत्तिर्व्यापारो वाच्यार्थप्रत्यायनम् ।
— लघु वृत्ति, पृ० ५५ प० १३

३ का० सा० सं०, ४, ६

४ अ अतएव पर्यायेणप्रकारान्तरेण अवगमात्मना व्यंग्येनोपलक्षित । लो० पृ० ४६
ब एवं विधस्य यो वाच्यवाचकयोर्व्यापारस्तमन्तरेणापि प्रकारान्तरेणार्थसामार्थ्यत्मनवगमस्वभावेन यदवगम्यते । लघु वृ०, पृ० ५५ प० १६
स अवगमन व्यापारेण व्यंजनारूपव्यापारेण । वामन झलकीकर, पृ० ६८०

५ तस्मादभिधातात्पर्यलक्षणा व्यतिरिक्तो चतुर्थोऽसौ व्यापारो ध्वनन द्योतन व्यंजनप्रत्यायनावगमनादिसोदरव्यपदेशनिरूपितोऽभ्युपगन्तव्य ।
— लोचन, पृ० २१

से युक्त काव्य को गुणीभूत-व्यंग्य की कोटि मे स्थान प्रदान किया। इस प्रकार आचार्य उद्भट के समय तक साहित्य शास्त्र में अवगमन-व्यापार, व्यंजना व्यापार की ओर भी काव्यशास्त्रियों का ध्यान पहुँच गया था।

केवल संस्कृत—काव्यशास्त्र में ही नहीं अपितु ध्वनि सिद्धान्त के प्रतिपादन में भी आचार्य उद्भट का उल्लेखनीय योगदान है।

रुद्रट के काव्यालंकार में ध्वनि संकेत—काव्यालंकार में भी वाच्यार्थ से भिन्न प्रतीयमान अर्थ की सत्ता स्पष्ट सिद्ध होती है। उन्होंने अभिधेयेतर का संकेत अधिकतर, प्रतीयते, गम्यते, गमयेत् आदि पदों से किया है।

रुद्रट की वक्रोक्ति विषयक धारणा भामह, दंडी से नितान्त भिन्न है। भामह इत्यादि पूर्वाचार्यों की वक्रोक्ति का क्षेत्र विस्तृत था, रुद्रट ने उस क्षेत्र को संकुचित करके अलंकार मात्र तक सीमित कर दिया। उन्होंने वक्रोक्ति के दो भाग किये हैं १ श्लेष वक्रोक्ति और २ काकु वक्रोक्ति श्लेष वक्रोक्ति मे श्लिष्ट शब्द की सहायता से दूसरा अर्थ निकलता है परन्तु काकु वक्रोक्ति मे *"कण्ठध्वनि" अथवा उच्चारण विधि से ही प्राकरणिक अर्थ से भिन्न अर्थ प्रतीत होता है।* परवर्ती आचार्य ने वक्रोक्ति को रुद्रट के अनुसार ही माना और काकु की सहायता से भिन्न प्रतीत होने वाले अर्थ को 'काकवाक्षिप्त, व्यंग्य स्वीकार किया है।[1] केवल राजशेखर ने काकु के अलंकारत्व को मान्यता नहीं दी है। वैसे उसे काव्य का जीवित तक स्वीकार कर डाला है।[2] काव्यालंकार में काकु-वक्रोक्ति का लक्षण इस प्रकार है जहाँ पर (काव्य मे) स्वर विशेष (कंठ ध्वनि विशेष) से स्फुट उच्चार्यमाण पदादि से अक्लिष्ट (कल्पना रहित) अथवा बिना विशेष खीचतान किये हुये अर्थान्तर प्रतीति होती है उसे काकु वक्रोक्ति कहते हैं।[3]

काव्यालंकार में अर्थालंकारों को चार भागों मे विभक्त किया गया है १ वास्तव २ औपम्य ३ अतिशय ४ श्लेष।[4] वास्तव कोटि के अलंकारों में 'भाव' नामक अलंकार भी माना गया है। इस अलंकार के दो लक्षण और दो उदाहरण इस ग्रन्थ में उपन्यस्त हैं। उनमें प्रथम—

"जहाँ किसी अनेकान्तिक हेतु के द्वारा किसी व्यक्ति में विकार (मुखमालिन्यादि) उत्पन्न होता है तथा वही विकार अपने और हेतु के कार्यकारण भाव और विकारवान् व्यक्ति के आन्तरिक अभिप्राय का सूचक होता है वहाँ भाव अलंकार होता है'।[5]

---

१ वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधे ।
यो॑ऽर्थस्यान्यथाधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा ॥ का॰ प्र॰, ३ २१—२२
काकुर्ध्वनेर्विकार । वही

२ अभवाकुन्तोलोके व्यवहारो न केवल ।
शास्त्रेष्वप्यस्य साम्राज्य काव्यस्याप्येपजीवितम ।—काव्य मीमांसा ।

३ अर्थान्तरप्रतीतियत्रासौ काकुवक्रोक्ति । काव्यालंकार, २—१६

४ काव्यालंकार ७ ९ अर्थस्यालंकारा वास्तवमौपम्यमतिशय श्लेष' ।

५ यस्य विकार प्रभवन्नप्रतिबद्धेन हेतुना येन ।
गमयति तदभिप्राय तत्प्रतिबन्ध च भावोऽसौ । का॰ ल॰, ७ ३८

इसके उदाहरण मे रुद्रट ने एक आर्या दी है जिसका अर्थ यह है, 'किसी ग्रामतरुण को नववञ्जुलमजरी हाथ में लिये हुये देखने वाली तरुणी की मुख कान्ति अत्यन्त मलिन हो जाता है'।[१] वास्तव मे ग्रामतरुण को, जो उसका उपपति है इस तरुणी ने रति हेतु वजुल-कुज मे मिलने का सकेत कर दिया था। परन्तु वह गृहकाय अथवा विस्मति आदि कारणो से सकेत स्थल पर पहुँच न सकी, ग्रामतरुण वहाँ पहुँचा और विप्रलब्ध वहाँ से वजुल मजुल-मजरी हाथ मे लेकर उसको स्मृति दिलाने उसके घर पहुँचा। उसको उस प्रकार देखकर हार्दिक खिन्नता से उसकी (तरुणी) मुख कान्ति मलिन पड गई। मुख मलिन छाया ही सहृदय को इस समस्त सदर्भ की सूचना देती है। काव्य प्रकाश एव अलकार-शेखरकार ने यही आर्या मध्यम काव्य के उदाहरण मे दी है और वजुल कुज म दत्त सकेत तरुणी नही गई' आदि गुणीभूत व्यग्य स्वीकार किया है।[२]

दूसरे भाव का लक्षण—"जो वाक्य अपने वाच्यार्थ का प्रतिपादन करते हुये वक्ता के अभिप्राय रूप अन्य विलक्षण प्रकृताथ मे विधि निषेध के भिन्न-अर्थ का अवगमन कराता है, वह वाक्य दूसरा भाव नामक अलकार है।'[3]

उदाहरण—स्वयदूती पथिक से कहती है इस गृह में मैं अकेली तरुणी अबला हूँ, गृहस्वामी विदेश गये हैं, बेचारी यह सास अधी और बहिरी है, मूर्ख पथिक मेरे घर मे रात्रि निवास चाहते हो'।[४] इस कथन से आपातत तो निवास निषेध की प्रतीति होती है परन्तु तरुणी, मूढ आदि पदों पर विचार करने से प्रकृतार्थ निषेध से विलक्षण विधिरूप अर्थ की प्रतीति होती है।

भाव का प्रथम लक्षण और द्वितीय उदाहरण लोचन मे उद्धृत है।[५] लोचनकार ने इसम गुणीभूत व्यग्य स्वीकार किया है।

पर्याय का लक्षण उनके इस भाव लक्षण से मिलता-जुलता है। अन्य आचार्यों की भाँति पर्याय मे उन्होने अर्थान्तर की सत्ता स्वीकार की है। यह अर्थ व्यग्य ही है।

इसी प्रकार परिसख्या, गम्योपमा, समासोक्ति, अन्योक्ति एव वाक्यमूलक अर्थश्लेष अलंकारो में रुद्रट को अर्थान्तर प्रतीति मान्य है। इनमे से गम्योपमा और समासोक्ति के लक्षणा का उल्लेख व्यग्यार्थ की मान्यता की दढता के लिये किया जाता है।

---

१ ग्रामतरुण तरुण्या नववञ्जुलमञ्जरीसनाथकरम।
पश्यन्त्या भवतिमुहुर्नितरा मलिना मुखच्छाया॥ का० ल०, ७ ३९

२ अत्र वञ्जुलकुञ्जे दत्तसकेता तरुणी न गतेति।
व्यज्यते। तच्च गुणीभूत। अलकार-शेखर, पृ० ११ एव काव्यप्रकाश-हरिमगल मिश्र, पृ० ६।

३ अभिधेयमभिदधान तदेव तदसदृशसकलगुणदोषम।
अर्थान्तरमवगमयति यद्वा वाक्य सोऽपरो भाव। का० ल० ७ ४०

४ एकाकिनी यदबला तरुणी तथाहमस्मिन्गृहे गृहपतिश्च गतो विदेशम।
किंयाचसे तदिह वासमिय वराकी श्वश्रूममान्धबधिरा ननु मूढ पान्थ॥
—वही, ७ ४१

५ लोचन, प० ५३

गम्योपमा म सुप्रसिद्ध साधारण धम तद्वाची पद के प्रयोग के अभाव म प्रतीत होता है।[1] वाचक के प्रयोगाभाव म प्रतीति व्यग्य ही है।

समासोक्ति—'जहाँ पर सभी समान विशेषणो से वण्यमान उपमान केवल उपमेय की प्रतीति कराता है वहाँ समासोक्ति नामक अलकार होता है।'[2] उदाहरण मे सुवृक्ष का वर्णन शब्दो से किया गया है अतएव वाच्य है परन्तु इससे उपमेयभूत सत्पुरुष की प्रतीति व्यजना से ही हो सकती है। वक्ता को सत्पुरुष ही अभीष्ट भी है।[3]

अर्थश्लेष—

रुद्रट ने अर्थश्लेष का अत्य त विस्तृत विवेचन किया है और उसके कई भेदोपभेद किये हैं। शुद्ध अर्थश्लेष के ये भाग हैं १ अविशेष, २ विरोध, ३ अधिक, ४ वक्र, ५ व्याज, ६ असभव, ७ अवयव, ८ तत्व, ९ विरोधाभास और १० संश्लिष्ट। अर्थ श्लेष के अगणित भेद हो सकते हैं, अतएव उनका उल्लेख नही किया गया है। शुद्ध अर्थश्लेष के उपयुक्त भेदो मे से व्याजश्लेष एवं विरोधाभास परवर्ती आचार्यों के व्याज-स्तुति और विरोधाभास नामक अलकार ही हैं। रुद्रट द्वारा उपन्यस्त व्याजश्लेष का उदाहरण ध्वनि के उदाहरणो म स्थान पा सकता है।[4] उसके अविशेष, वक्र एव उक्तिश्लेष मे चमत्कारक व्यग्य सन्निविष्ट हैं। कदाचित् अर्थश्लेष के इस विस्तार को देखकर ही जयरथ ने श्लेषवादियो की ध्वनि विरोधियो मे गणना की थी।[5] और ध्वनिकार ने श्लेष एव ध्वनि मे अ तर स्पष्ट करके भ्रम को दूर किया था।[6]

अग्निपुराण और ध्वनि—

अग्निपुराण के समय एव उसकी विषय—सामग्री के सम्ब ध मे मतभेद है। पुराण सग्रह ग्र थ प्रतीत होता है।[7] इसको यदि नवम् शता दी के आसपास का सग्रह स्वीकार किया जाता है तो ध्वनि का इस प्रकार प्रभाव स्वीकार किया जायगा इसका ध्वनि पर नही। इस समय से पूव का सिद्ध होने पर यह ग्र थ ध्वनि विकास म एक अदभुत कडी सिद्ध होगा।

ग्र थ के 'श दार्थालकार' प्रकरण मे ध्वनि का उल्लेख मिलता है। इस प्रकरण के ७ से १९ तक के श्लोको मे *अभिधा, लक्षणा एव ध्वनि का निम्न प्रकार का* सकेत है। 'भाव प्रकटन का नाम अभिव्यक्ति है। इसके दो भेद है—श्रुति तथा आक्षेप। 'श्रुति श द से अपना अथ प्रकट करती है।[8] इसका एक भेद पारिभाषिकी भी है जो सकतित अर्थ प्रकट करती है।[9] वस्तुत यह श्रुति

---

१ का यालकार, ८—७
२ वही, ८ ६७
३ अत्र तरुरूपमान गुणसाधमर्यात्सत्पुरुषमेव गमयति। नमिसाधु, पृ० ११३
४ काव्यालकार, १०—१२
५ ध्वनिसम्प्रदाय और उसके सिद्धा त, प० ३७६
६ ध्वन्यालोक, प० ११६
७ अग्निपुराण का का यशास्त्रीय भाग भूमिका, प० ४
८ प्रकटत्वमभि यक्ति श्रुतिराक्षेप इत्यादि।
तस्या भेदो, श्रुतिस्तत्रशा द स्वाथ समपणम॥ अग्निपुराण, ३४५—७
९ सकेत परिभाषेति तत स्यात्पारिभाषिकी। वही, ३४५—८

अभिधा ही है। उद्भट ने भी अपने रूपक-लक्षण मे 'श्रुति' का प्रयोग अभिधा के लिये किया है।

लेखक ने श्रुति का दूसरा भेद नैमित्तिकी माना है। यह भेद लक्षणा ही है। तदुपरान्त ध्वनि का इस प्रकार उल्लेख है।

श्रुतेरलभ्यमानार्थो यस्माद्भाति सचेतन ।
स आक्षेपो ध्वनि स्याच्च ध्वनिना व्यज्यते यत ॥[1]

'जहाँ श्रुति (अभिधा) से अलभ्यमान जिस अन्य अर्थ की सचेतन को प्रतीति होती है, वह आक्षेप ध्वनि कहलाता है, क्योंकि इसकी व्यजना (प्रतीति) ध्वनि से होती है।"

श्री रामलाल वर्मा शास्त्री ने 'श्रुति' का अर्थ 'कर्णेन्द्रिय' किया है जो प्रसग को देखते हुए उचित प्रतीत नही होता है। उसका अर्थ 'अभिधा' सगत जान पडता है।[2]

जिस अर्थ की प्रतीति अभिधा। परिभाषिकी एव नैमित्तिकी-लक्षणा से नही होती है, परन्तु सहृदय को उस अर्थ की प्रतीति होती अवश्य है, उसको ध्वनि कहते हैं। ध्वनिकार ने प्रथम उद्योत मे अभिधा एव लक्षणा से ध्वनि को भिन्न सिद्ध करके प्रकारान्तर से यही बात कही है। इसमे अर्थ का 'आक्षेप' है। विशेष बात इसमे ध्वनि के नामकरण की है। ध्वनिकार का कथन है कि उन्होंने 'ध्वनि' नाम वैयाकरणो से ग्रहण किया है। उन्हे अग्निपुराण का ऋण स्वीकार करना चाहिये था। दूसरी विशेष बात यह है कि 'ध्वनिनाऽव्यज्यते यत' का प्रयोग है। 'ध्वनिना' का तृतीयान्त प्रयोग उसके करणत्व का सूचक है। यह स्पष्ट है कि 'ध्वनिना' का प्रयोग 'व्यजना' के अर्थ में 'व्यज्यते' का प्रयोग 'ध्वन्यते' के अर्थ मे हुआ है।

अन्य प्रकार से कही गई बात को 'पर्यायोक्त' कहकर पुराणकार ने 'एषाम्मेकतस्मैव समाख्या ध्वनिरित्यत'[3] कहा है, जिसका अर्थ यह है कि इन प्रकारों मे से (श्रुति के भेदो से) एक प्रकार, पर्यायोक्त ध्वनि भी कहा गया है अथवा सभी को सामूहिक रूप से ध्वनि भी कह सकते हैं।

यदि अग्निपुराण के काव्यशास्त्रीय भाग को ध्वनिकार का पूर्ववर्ती स्वीकार किया जाता है तो यह निस्सदेह सिद्ध होता है कि ध्वनिकार के कार्य के लिये पुराणकार ने यथेष्ट मार्ग प्रशस्त कर दिया था। ध्वनि का उत्तरवर्ती मानने पर इसका मूल्य समाप्त हो जायगा।

आनन्दवर्धन और उनका सिद्धान्त—

ध्वनि स्वरूप—ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य सिद्धान्तो की परीक्षा करके यह दिखाया जा चुका है कि व्यग्य अर्थ की रमणीयता का आभास उनको था परन्तु वे सिद्धान्त उसका प्रतिपादन न कर सके। इसका सिद्धान्त प्रतिपादन सर्व प्रथम आनन्दवर्द्धन ने ही किया। इसमे सन्देह नही है कि व्यग्यार्थ का प्रधानता और रमणीयता के प्रतिपादन की प्रेरणा आचार्य आनन्दवर्धन को अपने पूर्ववर्ती आचार्यों और महाकवियो के काव्यो से ही मिली। 'समाम्नात पूर्व' से उन्होंने इसी कृतज्ञता का ज्ञापन किया है। इसका 'ध्वनि' नाम उन्होने व्याकरणो से ग्रहण किया जैसाकि उन्होंने स्वीकार भी किया है।[4]

---

१ अग्निपुराण, ३४५—१५
२ अग्निपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ० ७६
३ अग्निपुराण, ३४५—१६
४ ध्वन्यालोक, पृ० ५५

आचार्य ने ध्वनि-स्वरूप का निरूपण करने से पूर्व ध्वनि विरोधियों की कल्पना की है। वे हैं १ अभाववादी २ भक्तिवादी और ३ अलक्षणीयतावादी। इन तीनो की उद्भावना करके उन्होंने खडन भी किया है। इनमे प्रथम अभाववादी पक्ष विपययमूलक, द्वितीय भक्तिवादी सदेहमूलक और तृतीय अलक्षणीयतावादी अज्ञानमूलक हैं। प्रथम ध्वनि का स्पष्ट विरोध करता है, दूसरा सदेहवादी उसकी ईषत्स्वीकृति प्रदान करता है और तीसरा केवल उसका लक्षण करने में असमर्थ है।

अभाववादी और अलक्षणीयतावादी पक्षा का उल्लेख करते समय परोक्ष भूत की क्रियाओ का प्रयोग किया गया है। अतएव वे दोनो सम्भावित पक्ष हैं और भक्तिवादी पक्ष का उल्लेख वर्तमान की क्रिया से है। अतएव वह प्रवतमान आचार्यों की ओर सकेत कराता है। इसी लिये लोचनकार ने उसमें भामह, उद्भट आदि के मत को ग्रहण किया है। इसका यह तात्पय कदापि नही है कि ये पूववर्ती आचाय ध्वनि का विरोध करते हैं जबकि उनकी कृतियो में व्यग्याथ के स्पष्ट सकेत मिलते हैं। आनन्दवधन ने स्वीकार किया है कि काव्यो म गुणवृत्ति से व्यवहार दिखाने वाले (भटट उद्भट और भामह) ने ध्वनिमाग का थोड़ा सा स्पश करके उसका स्पष्ट लक्षण नही किया।[१] उद्भट और भामह के सिद्धान्तों मे ध्वनि का अन्तर्भाव न हो सके इसलिये इस भक्तिवादी पक्ष की कल्पना की गई है।

अभाववादी पक्ष के भी तीन विकल्प हो सकते हैं १ प्रसिद्ध-अभाव, २ रमणीयता का अभाव और ३ अन्तर्भाव का अभाव। प्रथम प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि काव्य मे शब्द और अथ के चारुत्व हेतु अलकारा, सघटना धमगुणो और इन्ही दोनो म अन्तभू त होने वाली उपनागरिकादि वत्तियो और वैदर्भी आदि रीतियों के अतिरिक्त कोई अन्य सौन्दय हेतु प्रसिद्ध ही नही है।[२] अतएव इनके अतिरिक्त ध्वनि कोई तत्व नही हो सकता है। १ दूसरे प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि जितने काव्य माग प्रसिद्ध हैं उन्ही म सौदय रहता है, उनके अतिरिक्त माग म सौदय न रहने से काव्यत्व भी न रह सकेगा। यदि कुछ सहृदयो की कल्पना कर सौंदय और आह्लाद का सद्भाव स्वीकार भी किया जायगा तो वह सभी विद्वानों को उस रूप मे न होगा।[३] तीसरे प्रकार के अभाववादी कह सकते हैं कि यदि ध्वनि-माग कमनीयता का अतिक्रमण नही करता तो उसका अन्तर्भाव प्रसिद्ध गुण अलकारादि म हो जायगा। फिर उनमे से ही किसी का नया नाम रख लेना व्यथ होगा। उनकी दृष्टि म यह ध्वनि प्रवादमात्र है।[४]

भक्ति की व्युत्पत्ति चार प्रकार से की जा सकती है। सभी व्युत्पत्तिया के अनुसार भक्ति शब्द से आलकारिको की लक्षणा और मीमासको की गौणी, दो प्रकार की शब्द शक्तियो का ग्रहण होता है। इनसे प्राप्त होने वाले लक्ष्य और गौण, दोनों अथ भक्ति से ग्रहण

---

१ अमुख्या वृत्त्या काव्येषु व्यवहार दशयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि न लक्षित इति ध्वन्यालोक, पृ० १२।

२ ध्वन्यालोक पृ० ७

३ वही, पृ० ८

४ वही, पृ० ९—११

होते हैं। यह भक्तिवादी पक्ष ध्वनि का स्पष्ट विरोधी नहीं है। यदि विचार करके देखा जाय तो इसमें ध्वनि की इयत्स्वीकृत सी निहित है। कारण लक्षणा के प्रयोजन में ध्वनि रहती है।

भक्तिवादी पक्ष मुख्य व्यापार अभिधा के अतिरिक्त एक गुणवृत्ति नामक अमुख्य व्यापार भी मानता है। उद्भट ने भामह विवरण में भामह के 'अभिधानार्थ' की व्याख्या में 'मुख्य अभिधा व्यापार और गुणवृत्ति अमुख्य व्यापार माना है।[1]

अतएव यदि ध्वनि मुख्य व्यापार अभिधा के अतिरिक्त कोई अमुख्य व्यापार है तो उसका ग्रहण गुणवृत्ति से हो जायगा। कारण, ध्वनिकार ने भी उस सहृदय श्लाघ्य अर्थ के दो भेद स्वीकार किये हैं। अग्निपुराण में अभिधा के पारिभाषिकी और नैमित्तिकी दो भेद किये हैं। उनकी नैमित्तिकी लक्षणा ही है। इसलिए लक्षणा में अन्तर्भाव हो जाने के कारण ध्वनि को अलग व्यापार मानना इनको अभीष्ट नहीं है।

ध्वनि के अलक्षणीयतावादी विरोधी अन्तःकरण से ध्वनि सद्भाव स्वीकार करते हैं, वे केवल उस तत्व को अनिर्वचनीय मानकर उसका लक्षण निश्चित करने में असमर्थ हैं। ये ध्वनि के साक्षात् विरोधी नहीं माने जा सकते।

ध्वनिकार इन तीनों विरोधी पक्षों की अवतारणा करके ध्वनि का स्वरूप निर्देश करते हैं। कारण, सम्पूर्ण सत्काव्यों के परमरहस्य भूत अत्यन्त रमणीय उस तत्व का रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थों में सर्वत्र सन्निवेश है। उस सहृदय श्लाघ्य काव्यात्मा अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं।[2] अर्थ तो तीन प्रकार का होता है वाच्य, लक्ष्य और व्यंग्य। गुणवृत्ति के रूप में ध्वनिकार को भी तीसरा-लक्ष्य अर्थ मान्य है। फिर उसको अर्थ भेदों में क्यों नहीं गिना ? उसका कारण यह जान पड़ता है कि वाच्य लक्ष्य और व्यंग्य को आधार भूमि है और व्यंग्य काव्य की आत्मा है। यह अर्थ भेद प्राधान्य की दृष्टि से है। ये दो अर्थ ही प्रधान हैं एक लक्ष्य और व्यंग्य का आधार होने के कारण और दूसरा चारुता की दृष्टि से प्रधान होने के कारण।

प्रतीयमान अर्थ वाच्य से नितान्त भिन्न है, वह तो महाकवियों की वाणी में काव्य के प्रसिद्ध शब्दार्थ-शरीर से उसी प्रकार भिन्न प्रतीत होता है जिस प्रकार स्त्रियों का लावण्य। वह समस्त अवयवों से पृथक प्रतीत होता हुआ जिस प्रकार सहृदयों के लोचनों को शीतल करता है, उसी प्रकार काव्य मर्मज्ञों को वह अर्थ आह्लादित करता है।[3] मोतियों में आन्तरिक कान्ति की भाँति अंगों में जो तरलत्व प्रतीत होता है उसे लावण्य कहते हैं। 'ध्वनि शब्द' की व्युत्पत्ति पाँच प्रकार से होती है।[4]

१—'ध्वनति इति ध्वनि' व्युत्पत्ति काव्य शरीर शब्दार्थ से सम्बन्धित है।[5] सहृदयश्लाघ्य अर्थ के जो वाच्य और प्रतीयमान भेद किये हैं उनमें से वाच्य का ध्वनि के अन्तर्गत ग्रहण इसी व्युत्पत्ति से होता है। वाच्य से वाचक शब्द को सहकारिता के कारण ग्रहण किया जाता है।

---

१ शब्दानामभिधानमभिध्व्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च। लोचन, पृ० १२
२ ध्वन्यालोक, कारिका, २
३ वही कारिका ४
४ लोचन, पृ० ३९, नगेन्द्र भूमिका, पृ० २८, काव्यालोक रामदहिन, पृ० २००
५ शब्दोऽप्येव व्यंग्यो वा ध्वनयते इति। लोचन, पृ० ३९

२—'ध्वन्यते इति ध्वनि' व्युत्पत्ति से त्रिविध प्रतीयमान अर्थ ध्वनि कहलाता है। यही काव्य की आत्मा है। रसादि अर्थ ध्वनि की भी आत्मा हैं। उन्ही दोनो व्युत्पत्तियों को ध्यान मे रखकर ध्वनि की भूमिका म आचार्य ने अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये हैं।

प्रतीयमान अर्थ तीन प्रकार का होता है १ वस्तुमात्र, २ अलंकार और ३ रसादि। इनका विस्तृत विवेचन अवसर पर होगा। यह अर्थ अपने तीनो रूपो मे वाच्य से सर्वथा भिन्न होता है। कही वाच्य विधि रूप है तो वह प्रतिषेध रूप, कही इसके विपरीत कही विधि प्रतिषेध भिन्न रूप और कही भिन्न विषयगत प्रतीत होता है। द्वितीय, अलंकार ध्वनि भी वाच्य अलंकार से भिन्न है। रसादि ध्वनि तो वाच्य से विभिन्न है ही। कारण, जब रसादि स्वशब्दनिवेदित होते हैं तब एक तो रसादि की प्रतीति नहीं होती है और दूसरे स्वशब्दवाच्यत्व दोष भी माना जाता है। रसादि की प्रतीति स्वशब्दवाच्यत्व के अभाव म विभावादि के द्वारा ही होती है। हाँ, उसकी प्रतीति वाच्य के साथ ही होती है[1] वह वाच्यार्थ की सामर्थ्य से आक्षिप्त होता है। वह शब्द व्यापार का विषय नही है।

वह रसादिरूप प्रतीयमान अर्थ ही इतिहास और स्वानुभव से काव्य का सर्वस्व सिद्ध होता है। क्रौंचमिथुन के वियोगोत्पन्न शोक के रूप म वही अर्थ प्राचीन काल म आदि-कवि वाल्मीकि के मुख से काव्यरूप श्लोक म नि सृत हुआ था।[2] रस का यह प्राधान्य इतिहास प्रसिद्ध है। केवल व्याकरण से शब्दार्थ सम्बन्ध मात्र जान लेने से ही उस अर्थ को जानने की क्षमता नही आती है, वह काव्यार्थ तत्वज्ञो को ही प्रतीति होती है।[3]

इस प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करने की शक्ति से युक्त कोई विशेष शब्द ही है। शब्दमात्र म उसको अभिव्यक्त करने की सामर्थ्य नही है। इन्ही का काव्य म प्राधान्य है अतएव महाकवि को उनको पहिचानने का प्रयत्न करना चाहिये।[4] फिर भी वाच्य-वाचक का प्रथम उपादान व्यर्थ नही है क्योंकि व्यंग्यार्थ की प्रतिपत्ति वाच्यार्थपूर्विका होती है और वह वाक्यार्थ पदार्थ से उसी प्रकार प्रतीत होता है जिस प्रकार दीपक के प्रकाश से अन्धकार म स्थित वस्तु।[5] जिस प्रकार वाक्यार्थ के प्रकाशित होने पर पदार्थ विभावना समाप्त हो जाती है, उसी प्रकार सहृदय की तत्वदर्शिनी बुद्धि म उस व्यंग्यार्थ की शीघ्र प्रतीति होने पर वाच्यार्थ शान्त हो जाता है।[6]

३—ध्वनि की अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनि' से काव्य विशेष का ग्रहण होता है। इस काव्य विशेष म व्यंजक शब्दार्थ गुणीभूत होकर उस प्रतीयमान अर्थ को अभिव्यक्त करते हैं।[7]

यहाँ तक ध्वनि के तीन व्युत्पत्तिपरक अर्थों म ध्वनि का सद्भाव और उसकी प्रधानता सिद्ध

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० १८—३१
२ ध्वन्यालोक, १—५
३ वही, १—७
४ वही, १—८
५ वही, १-९-१०
६ वही, १-११-१२
७ वही, कारिका १३

की गयी। करणपरक व्युत्पत्ति में व्यंजना शक्ति को ग्रहण किया जाता है। व्यंजना की अभिधा तथा लक्षणा से भिन्नता अगले अध्याय में प्रदर्शित की जायगी। व्यंजना ही चतुर्थ व्यापार है। इसी की सहायता से अभीष्टार्थ की प्राप्ति होती है।

इसके बाद उन्होंने विरोध—विकल्पों का समाधान किया है। सर्व प्रथम अभाववाद की दृष्टि से तीन विकल्प किये थे १ प्रसिद्धि अभाव २ रमणीयता भाव ३ अन्तर्भाव अभाव। ध्वनि केवल काव्य लक्षण-कारों के लिये ही अप्रसिद्ध रही है। लक्ष्य ग्रन्थों की परीक्षा करने पर वही सहृदय हृदयाह्लादकारी काव्यतत्व सिद्ध होती है।[1] वह काव्यतत्व सहृदयहृदयाह्लादकारी है अतएव उसमें रमणीयताभाव स्वीकार नहीं किया जा सकता है।

वह काव्यतत्व यदि रमणीयतायुक्त है तो उसका प्रसिद्ध अलंकारादि प्रकारों में अन्तर्भाव हो जायगा, यह अभाववादी पक्ष का तीसरा विकल्प है। यह विकल्प भी असमीचीन है। कारण, वाच्यवाचक भाव पर आश्रित रहने वाले अलंकार मार्ग में व्यंग्य-व्यंजक आश्रित ध्वनि का अन्तर्भाव कैसे हो सकता है? दूसरे वाच्य वाचक चारुत्व हेतु उसके अंग हैं, वह अंगी है। जहाँ प्रतीयमान अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती वहाँ ध्वनि नहीं मानी जायगी। यदि यह कहा जाय कि समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त, अपह्नुति आदि अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव हो जायगा क्योंकि इन अलंकारों में प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है, यह कथन भी असमीचीन है। कारण, अलंकारों में वाच्यवाचक का प्राधान्य रहता है और ध्वनि में उनका गौणत्व विवक्षित है। अतएव उक्त अलंकारों में ध्वनि का अन्तर्भाव नहीं हो सकता है।[2] यदि पर्यायोक्त (उद्भट सम्मत) में ध्वनि का प्राधान्य स्वीकार किया जाय तो उसका अन्तर्भाव ध्वनि में हो जायगा, ध्वनि का उसमें नहीं। ध्वनि का उसके अतिरिक्त भी विषय है। भामह के पर्यायोक्त में ध्वनि का प्राधान्य नहीं है।[3]

इस प्रकार अभाववादी तीनों विकल्पों का निराकरण कर यह सिद्ध हो गया कि ध्वनि है।

भक्तिवादी पक्ष में भी तीन विकल्प सम्भव हैं—१ भक्ति और ध्वनि की स्वरूप एकता २ भक्ति ध्वनि का लक्षण और ३ भक्ति ध्वनि का उपलक्षण। भक्ति का वाच्यार्थ से नियत सम्बन्ध होता है परन्तु ध्वनि का उससे नियत सम्बन्ध ही नहीं होता है। इसलिए दोनों में स्वरूप भिन्नता है।[4] अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष के कारण भक्ति ध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती है, और न उसका उपलक्षण।[5] इसका विस्तृत विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

ध्वनि का सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित होने पर अलक्षणीयतावादी पक्ष का

---

१ ध्वन्यालोक, पृ० ३६

२ वही, पृ० ४०—४१ वृत्ति भाग।

३ वही, पृ० ४६

४ भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः। ध्वन्यालोक, १, १७।

५ ध्वन्यालोक, १, १७।

भी समाधान हो जायगा। यदि ध्वनि को अनिर्वचनीय कहने मे अतिशयोक्ति का प्रयोग कर उसके उत्कृष्ट स्वरूप का कथन है तो उचित है।

ध्वनि की सत्ता और उसके स्वरूप के निश्चय के पश्चात् व्यग्य और व्यजक की दृष्टि से ध्वनिकार ने उसके भेदोपभेद करने का प्रयत्न किया है। व्यग्य अर्थ की दृष्टि से ध्वनि दो प्रकार की है—१ अविवक्षित वाच्य ध्वनि और २ विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। इनमे स प्रथम म लक्षणामूलक व्यग्य की स्थिति होती है और द्वितीय म अभिधा मूलक व्यग्य की। लक्षणा मूलक व्यग्य लक्षणा के भेदो की दृष्टि से दो प्रकार का होता है। एक म अजहत्स्वार्था लक्षणा की स्थिति होती है और दूसरे म जहत्स्वार्था की। इनके आधार पर अविवक्षित वाच्य ध्वनि के दो भेद किये गये हैं। जिस रूप म अजहत्स्वार्था लक्षणा रहती है उसे अर्थान्तर सक्रमितवाच्य नाम दिया जाता है और जिसमे जहत्स्वार्था लक्षणा रहती है उसे अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य नाम दिया जाता है।

विवक्षितान्यपर वाच्य ध्वनि के भी दो भेद हैं—१ असलक्ष्यक्रम व्यग्य और सलक्षक्रम व्यग्य। इनम से असलक्ष्यक्रम व्यग्य म रस ध्वनि, भाव ध्वनि रस भाव के आभास आदि का ग्रहण किया जाता है। यह रसादि ध्वनि ही ध्वनि की भी आत्मा है। इसी के सम्बध से शब्दा लकार और अर्थालकार भी ध्वनि के विषय हो जाते हैं। ध्वनि काव्य म रसादि की प्रधानता का होना आवश्यक है। जहाँ ये रसभाव आदि गौणता प्राप्त कर लेते हैं वहाँ ये रसवत अलकार माने जाते हैं। काव्य म गुण रसाश्रित माने जाते हैं। गुणो का रसो से नित्य सम्बध है। शृङ्गार करुणा, आदि कोमल रसो से युक्त काव्य मे माधुर्य गुण की स्थिति रहती है, रौद्र, वीर आदि रसो मे ओज और प्रसाद गुण सभी रसो से सम्बन्धित है। रस चित्तवृत्ति रूप है। इनमे करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शृङ्गार म चित्त द्रुति की स्थिति म रहता है, रौद्र, वीर और वीभत्स म दीप्ति की स्थिति म और स्वच्छता अथवा विस्तृति स्थिति मे सभी रसो म रहता है। चित्त की तीन द्रुति, दीप्ति और विस्तृति स्थितियो की दृष्टि स क्रमश माधुर्य, ओज और प्रसाद गुण माने जाते हैं। यह रसादि ध्वनिरूप असलक्ष्यक्रम यद्यपि स्वगत और परगत भेदो के मिश्रण के आधार पर अनन्त प्रकार का हो सकता है, परन्तु वह एक प्रकार का ही माना जाता है।

रस निर्वाचन का कवि को प्रयत्न करना चाहिये। इस प्रयत्न मे ही जिन अलकारो की योजना स्वत ही काव्य म हो जाती है, वे ही अलकार साधक हैं। यमक और अनुप्रास का सानुबन्ध निर्वाह रस-परिपाक मे बाधक होता है इसलिये रस निबन्ध न करने वाले को चाहिये कि काव्य मे इनकी योजना करने मे समर्थ होने पर भी इनकी योजना नही करे।

सलक्ष्यक्रम व्यग्य भी शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल दृष्टि से दो प्रकार का होता है। इनम से शब्द शक्ति मूल ध्वनि मे केवल अलकार ध्वनि ही सम्मिलित है। इस ध्वनि का क्षेत्र श्लेष से नितान्त भिन्न है।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि भी आक्षिप्त वस्तु और आक्षिप्त अलकार की दृष्टि से दो प्रकार की है। अर्थ भी स्वत सम्भवी और कवि प्रौढोक्ति सिद्ध दो प्रकार का होता है। इस प्रकार अर्थशक्ति मूल ध्वनि के आठ भेद हो गये।

जहाँ व्यग्य अर्थ अप्रधान और कम चमत्कार युक्त होता है। वहा गुणीभूत व्यग्य माना जाता है। ध्वनि की दृष्टि से काव्य के मुख्य दो ही भेद हैं। ध्वन्यालोक के द्वितीय उद्योत म व्यग्य

अर्थ की दृष्टि से ही ध्वनि का विभाजन किया गया है। तृतीय में व्यंजक दृष्टि से भेद किये गये हैं।

ध्वनि के सभी भेद और उपभेदों में कभी पद व्यंजक होता है और कभी वाक्य। असलक्ष्यक्रम में पद और वाक्य के अतिरिक्त वर्ण, संघटना और प्रबन्ध की भी व्यंजकता हो सकती है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य में अर्थशक्तिमूल ध्वनि में भी प्रबन्ध व्यंजक होता है।

वर्णमाला में अल्पप्राण वर्ण कोमल माने जाते हैं और महाप्राण कठोर। कोमल वर्णों का प्रयोग शृंगार, विप्रलम्भ और करुण के लिए आवश्यक होता है क्योंकि ये माधुर्य के व्यंजक होते हैं। इन रसों में महाप्राण वर्णों का प्रयोग दोषाधायक होता है। ये महाप्राण वर्ण रौद्र और वीर रस में ओज के व्यंजक होने के कारण औचित्यपूर्ण होते हैं। इसी प्रकार संघटना भी रसों की व्यंजक होती है।

संघटना माधुर्य आदि गुणों के आश्रित रहती है। वर्ण और संघटना से माधुर्य आदि गुणों की व्यंजना होती है। संघटना, वक्ता, विषय आदि की दृष्टि से असमासा, दीर्घसमासा तथा मध्यसमासा होती है।

इस प्रकार ध्वनि काव्य, गुणीभूत व्यंग्य काव्य के संकर और संसृष्टि के द्वारा अनन्त भेद हो सकते हैं। संक्षेप में यही ध्वन्यालोक का विषय है।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि के आविष्कार से रस मीमांसा को प्रथमबार ही कलात्मक दृष्टिकोण प्रदान किया तथा रस और रसास्वादन की मनोवैज्ञानिक सौन्दर्य शास्त्रीय विवेचना प्रस्तुत की। ध्वनि का आविष्कार भारतीय रस मीमांसा के इतिहास में अत्यन्त महत्वपूर्ण घटना है।[1] ध्वनि सिद्धान्त में सभी आलोचना सम्प्रदायों का समन्वय हो गया। यही सबसे महत्वपूर्ण कार्य है।

आचार्य राजशेखर और उनका काकु व्यंग्य—

काव्य मीमांसा के प्रणेता आचार्य राजशेखर (८७० ९२०) ध्वनि सिद्धान्त के प्रवर्तक आनन्दवर्धन के परवर्ती आचार्य हैं। काव्य मीमांसा का पूरा ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। इसलिए आचार्य की रीति, वृत्ति ध्वनि आदि सम्बन्धी धारणा का निश्चयात्मक पता नहीं है, परन्तु यह निर्विवाद रूप से स्वीकार किया जा सकता है कि ग्रन्थ के "औक्तिक" अधिकरण में ध्वनि निरूपण होता है। काव्यमीमांसा के हिन्दी अनुवादक पंडित केदारनाथ शर्मा ने अपनी भूमिका में इस मान्यता की पुष्टि करते हुए लिखा है "रसों और रीतियों के सम्बन्ध में एक एक अधिकरण के अतिरिक्त एक औक्तिक अधिकरण भी लिखा है। इस अधिकरण में उक्ति सम्बन्धी विचार हैं। सम्भवत इसमें अभिधा, लक्षणा, और व्यंजना सम्बन्धी विचारों की मीमांसा की गई है, जो आचार्य आनन्द के ध्वन्यालोक का मुख्य विषय है।'[2]

राजशेखर ध्वन्यालोक से परिचित अवश्य थे। ध्वन्यालोक की कवि सम्बन्धिनी अव्युत्पत्ति उसी रूप में परिकर श्लोक के साथ काव्य मीमांसा में उद्धृत है।[3]

उनसे पहले भामह इत्यादि अनेक प्रसिद्ध आचार्य हुए थे। ग्रन्थ के प्रस्तुत अधिकरण में इन्होंने यथासम्भव सभी आचार्यों से ग्रहण किया है। यथावसर अन्य मतों की आलोचना भी की है

---

१ रस और रसास्वदन, पृ० ३२।

२ काव्यमीमांसा, हिन्दी, अनुवाद भूमिका, पृ० २७

३ वही, पृ० ३७

यथा काकु के प्रसंग में रुद्रट की काकु वक्रोक्ति अलंकार को।[1] अतएव ध्वनि जैसे प्रसिद्ध साहित्य प्रस्थान को वह अनालोच्य कैसे छोड़ देते। संभवतः उन्होंने उसका प्रसंग निरूपण 'औक्तिक अधिकरण' में किया है जो दुर्भाग्यवश अप्राप्य है।

काव्यमीमांसा में उक्ति का प्रयोग व्यंग्य चमत्कार के लिए ही हुआ है। इसी उक्ति की स्थिति के कारण ही उन्होंने काकु के अलंकारत्व का खंडन कर काव्यजीवित स्वीकार कर लिया है—

अयं काकुकृतो लोके व्यवहारो न केवलं।
शास्त्रेऽप्यस्य साम्राज्यं काव्यस्याप्येषजीवितम् ॥[2]

काव्य की प्राण यह काकु अर्थान्तर को स्फुट करने में सतत तत्पर रहती है और सहृदयों की भावना को व्यक्त करती है —

काम विवृणुते काकुरर्थान्तिरमतन्द्रिता।
स्फुटीकरोति तु सतां भावाभिनयचातुरीम् ॥[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि राजशेखर ध्वनि का विरोध करने वाले व्यक्ति नहीं हैं। परन्तु उनके ध्वनि सिद्धान्त समर्थन के सम्बन्ध में कोई निश्चित निर्णय नहीं दिया जा सकता है।

ध्वनि सिद्धान्त का विरोध

चन्द्रिका टीका और ध्वनि विरोध—

ध्वन्यालोक के ध्वनि सिद्धान्त का प्रारम्भिक विरोध मौखिक ही रहा। आचार्य आनन्दवर्द्धन ने ध्वनि के वैकल्पिक विरोधों का उल्लेख करते हुए अपने समसामयिक किसी मनोरथ कवि का एक छन्द दिया है जिसका आशय निम्नलिखित है—

"जिसमें न तो अलंकार से युक्त मन को प्रसन्न करने वाली कोई वस्तु है, न जो व्युत्पन्न वचनों द्वारा रची गई है और न जिसमें वक्रोक्ति है, जड़ लोग उसी काव्य को, ध्वनि समन्वित कहकर बड़े प्रेम से प्रशंसा करते हैं। नहीं पता यदि कोई पुण्यात्मा उनसे उसका स्वरूप पूछ दे तो वे क्या कहेंगे।"[4]

परन्तु ध्वनि सिद्धान्त के लिखित रूप में आने के पश्चात उसके विरोध भी लिखित रूप में आने लगे। प्रत्येक सिद्धान्त के सम्बन्ध में यही प्रक्रिया अपनाई जाती है। यह खण्डन मण्डन स्वतन्त्र ग्रन्थों के रूप में भी हो सकता है और टीकाओं के रूप में भी। व्यक्ति विवेक का खण्डन करने के लिए रुय्यक ने व्यक्ति विवेक व्याख्यान नाम की प्रसिद्ध टीका लिखी। इसी प्रकार ध्वनि का साधारण विरोध करने और ध्वनि सिद्धान्त के विपरीत ग्रन्थ का अर्थ लगाने के लिए अभिनवगुप्त के किसी पूर्ववंशज ने ध्वन्यालोक की 'चन्द्रिका' नामक टीका लिखी। रुय्यक ने

---

१ वही पृ० ७५
२ वही, पृ० ७६
३ काव्य मीमांसा, हिन्दी अनुवाद भूमिका, पृ० ७६।
४ ध्वन्यालोक पृ० १०।

इसको ध्वनि विचार का ग्रन्थ स्वीकार किया है।[1] महिमभट्ट को भी यही धारणा प्रतीत होती है। उन्होंने इसका अवलोकन नहीं किया था, इस तथ्य को उन्होंने अपने ग्रन्थ के प्रारम्भ में स्वीकार किया है। लोचन में "चन्द्रिका" की भ्रान्तियों का समाधान किया गया है।

मुकुलभट्ट द्वारा ध्वनि विरोध-चन्द्रिका के पश्चात अभिधावृत्ति मातृका के प्रणेता मुकुल भट्ट ने ध्वनि सिद्धांत का विरोध किया। उन्होंने केवल एक अभिधा व्यापार को ही माना। उन्होंने लाक्षणिक अर्थ को भी लक्षणावृत्ति बोध्य न मानकर अभिधा के भीतर ही ग्रहण किया है। वाच्य के लक्षण और अभिधावृत्ति के दस प्रकारों से उपर्युक्त कथन की पुष्टि होती है। उनका वाच्य लक्षण यह है "शब्द के द्वारा अभिधा व्यापार का आश्रय लेकर जो मुख्य अथवा लाक्षणिक अर्थ गोचर होता है उसे वाच्य कहते हैं।[2] इससे स्पष्ट है कि लाक्षणिक अर्थ भी आचार्य के मत में वाच्य ही है।[3] ग्रन्थ के अन्त में अभिधा के चार और लक्षणा के छः प्रकारों को मिलकर कुल दस प्रकार अभिधा वृत्ति के माने गये हैं।" कहने का तात्पर्य यह है कि ध्वन्यालोक की रचना के पश्चात् भी आचार्य मुकुल ने सभी प्रकार के अर्थों को अभिधा व्यापार बोध्य मानने का साहस किया।

मुकुलभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त की अवहेलना करते हुए लिखा है, "कतिपय सहृदयों ने जिस ध्वनि का नूतन ढंग से वर्णन किया है वह लक्षणा मार्ग के अवगाहन के अतिरिक्त कुछ नहीं है।[4] उन्होंने तीन उदाहरण देकर उनका लक्षणा में अन्तर्भाव सिद्ध किया है। इन तीन उदाहरणों में से एक वस्तु ध्वनि, दूसरा अलंकार ध्वनि और तीसरा रस ध्वनि का उदाहरण है। इनमें लक्षणा के अनिवार्य सहकारी हेतुओं का अभाव है अतएव उनका लक्षणा में अन्तर्भाव सिद्ध नहीं हो पाया है। मुकुल का खण्डन मम्मट ने शब्द व्यापार विचार नामक प्रकरण में किया है।

इसके पश्चात् मुकुल भट्ट के शिष्य प्रतिहारेन्दुराज ने ध्वनि सिद्धांत का प्रबल विरोध किया। उन्होंने काव्यालंकारसार संग्रह की टीका लिखी। इसी टीका के अन्त में उन्होंने ध्वनि सम्बन्धी मत दिया है।

आचार्य प्रतिहारेन्दुराज का विरोध—मुकुल ने अभिधा के एक भाग गौणी लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है और उन्होंने पर्यायोक्ति, अतिशयोक्ति आदि अलंकारों में इनका कथन है कि 'कुछ सहृदय जिस ध्वनि नामक नूतन सिद्धान्त को काव्य की आत्मा घोषित करते हैं उसको अलग काव्य धर्म मानने की कोई आवश्यकता नहीं है। उसका अन्तर्भाव इन्हीं प्रसिद्ध अलंकारों में हो जायगा। कदाचित उद्भट ने भी ध्वनि का अलग विवेचन इसीलिए नहीं किया है। ध्वनि के तीन भेद माने जाते हैं—१ वस्तुध्वनि, २ अलंकार ध्वनि और रस

---

१ चन्द्रिका, ध्वनि विचारक ग्रन्थ । व्यक्ति विवेक, पृ० ६ ।

२ मुख्यस्याभिधावृतस्य प्रकाराश्चत्वारो लाक्षणिकस्य तु षडित्येव दश प्रकारम् भिधावृत्तमत्र विवेचितम् । अभिधावृत्ति मातृका, पृ० २१ =

३ शब्देन मुख्य लाक्षणिक श्चाभिधाव्यापारमाश्रित्य यद्गोचरीक्रियते तद्वाच्यम् । अभिधावृत्ति मातृका, पृ० १० ।

४ लक्षणामार्गा वागाहित्वं तु ध्वने सहृदयैर्नूतनतयोपवर्णितस्य विद्यते तम् । पृ० २१

ध्वनि। इस त्रिविधि ध्वनि भेदा से वस्तु ध्वनि का अन्तर्भाव पर्यायोक्त म हो सकता है और अलकार ध्वनि का अन्तर्भाव भी पर्यायोक्त अथवा अन्य अलकारो म सम्भव है। रही रस ध्वनि की बात, उसम से जहाँ रस भाव आदि अगी होते हैं वे रसवत् अलकार माने हो जाते है और जहा वे अग रूप म चित्रित होते हैं वहाँ द्वितीय उदात्त अलकार माना जाता है। इनके अतिरिक्त ध्वनि मे कोई दूसरी विशेषता नहीं होती है। प्रतिहारेदुराज ने ध्वनि के समस्त भेदा को भी उपयुक्त भाँति से अमान्य ही सिद्ध किया है। उनकी मान्यता है कि उद्भट के अलकार प्रपच को विस्तृत रूप प्रदान कर देने के पश्चात् ध्वनि को काव्यात्मा स्वीकार करने म कोई युक्ति नही है।[१]

प्रतिहारेन्दुराज के तर्कों का अलग उत्तर देन की ध्वनिवादियो ने आवश्यकता नही समझी, कारण, आलकारिको की मान्यताओ का खण्डन करने पर उनको मान्यताओ का स्वत ही खण्डन हो जाता है।

आचाय भट्ट-नायक का ध्वनि विरोध—भट्टनायक न ध्वनि का खण्डन करन के लिए हृदय दर्पण नामक ग्रन्थ की रचना थी। व्यक्ति विवेक ग्रन्थ के व्याख्याकार रुय्यक ने यही मान्यता व्यक्त की है।[२] इसी मान्यता का समथन महिमभट्ट और अभिनवगुप्त ने किया है। महिमभट्ट ने यद्यपि हृदय दपण का अवलोकन नही किया था, परन्तु उसका नाम बडे उत्साह के साथ स्मरण किया है क्योकि स्वय वह भी ध्वनि का अनुमान म अन्तर्भाव करने क लिए प्रवत्त थ। अभिनवगुप्त ने अपनी टीका म अनेक स्थानो पर हृदयदपण के मत को उद्धृत करके उसका खण्डन किया है। लोचन के उद्धरणो से उनके प्रति थोडो अवना सी प्रतीत होती है। ग्रन्थ के अनुपलब्ध होन क कारण इन उद्धरणो के सकलन स ही आचाय के ध्वनि-सम्बन्धी अभिमत का चित्र मिल सकता है। यहाँ पर दो तीन प्रसगों का उल्लेख ही अभीष्ट होगा।

उन्होंने कहा था, 'यदि ध्वनि नाम के इस व्यजनात्मक व्यापार क अभिधा और भावना रसचवणा भेद सिद्ध भी हो जाय तो भी उसका काव्य म अशत्व ही होगा, रूपता नही होगी, अर्थात् उस ध्वनि म सम्पूण काव्य का अतर्भाव न हो सकेगा।[३] इसका निराकरण लोचनकार ने इस प्रकार किया है, रस अलकार और वस्तु भेद से ध्वनि तीन प्रकार की स्वीकार की गई है। उन तीनो भेदा म रसचवर्णा अथवा *रस ध्वनि ही काव्य का प्राण होता है। इस विषय म हृदय* दपण के प्रणेता का भी मतैक्य है क्योकि उन्होने भी काव्य म एक मात्र रस की प्रधानता मानी है, ज्ञान और उपदेश की नही।[४] ऐसी स्थिति मे काव्य म ध्वनि की रूपता नही मानी जा सकती इत्यादि कथन से यही समझा जा सकता है कि अश मानने स उनका (भट्टनायक) का अभिप्राय यह है कि वस्तु और अलकार ध्वनियाँ अश होती हैं। यदि एसा ही है तो इसस ध्वनिकार के मत का ही समर्थन हाता है। इसके विपरीत *रस को काव्य का सवस्व स्वीकार करके* अश मानने पर स्वमत के विरोध के साथ प्रसिद्धि और स्वसवेदन सिद्ध तत्व का विरोध होगा। भट्टनायक के

१ लघुवत्ति पृ० ८५ ९२।

२ दपणो हृदयदर्पणाख्यो ध्वनिध्वसग्रन्थ। व्यक्ति विवेक—व्याख्यान, पृ० ६

३ *ध्वन्यालोक तारावती पृ० ९८।*

४ काव्यरसयितासर्वो न बोद्धा न नियोगमाक। हृदयदपण लो० प० १४।

उद्धारणा की परीक्षा से यह निष्कर्ष निकलता है कि वह ध्वनि को रस तक ही सीमित करके अलंकार ध्वनि और वस्तुध्वनि का प्रत्याख्यान करना चाहते थे।[1]

वह काव्य में एक मात्र रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं। इसका ऊपर उल्लेख हो चुका है। परन्तु रस निष्पत्ति के सम्बन्ध में उन्होंने भावकत्व और भोगकृतत्व का भिन्न व्यापार स्वीकार किये हैं। अभिनव गुप्त ने अपनी टीका में उनके रस निष्पत्ति विषयक मान्यता की विस्तृत और मार्मिक मीमांसा करके भोग व्यापार का ध्वनि में अन्तर्भाव किया और रस के भुक्तिवाद के स्थान में अभिव्यक्तिवाद की स्थापना की।

ध्वनिकार ने ध्वनि का जो लक्षण किया है उसमें 'व्यक्त काव्य विशेष' पद समूह का प्रयोग है। 'व्यक्त' क्रिया में द्विवचन का प्रयोग है। ऐसा जान पड़ता है कि जिस प्रकार व्यक्तिविवेककार ने इस लक्षण में दस दोषों का उद्घाटन करने का प्रयत्न किया था उसी प्रकार कदाचित भट्टनायक ने भी इस लक्षण में कतिपय दोष दिखाये होंगे। उनमें से क्रिया के द्विवचन को दूषित सिद्ध करना भी एक दोष रहा होगा। लोचनकार ने भट्टनायक के द्विवचन के खण्डन को गज निमीलिका (बिना सोचे समझे खण्डन पर टूट पड़ना) स्वीकार किया है। ध्वनिकार ने लक्षण में द्विवचन का ठीक ही प्रयोग किया है क्योंकि अविवक्षित वाच्य में शब्द व्यंजक होता है और अर्थ की उसमें सहकारिता बनी रहती है तथा विवक्षितान्य पर वाच्य में अर्थ की व्यंजकता के साथ शब्द की सहकारिता समाप्त नहीं होती है। शब्द और अर्थ की व्यंजकता को समान महत्व देने के लिए ही ध्वनिकार ने लक्षण में द्विवचन का प्रयोग किया है।[2]

ऐसा प्रतीत होता है कि ध्वन्यालोक में उद्धृत पद्यों की भट्टनायक ने अपने अनुसार व्याख्या करके भी ध्वनि का खण्डन किया। लोचनकार ने यत्र-तत्र पद्यों की ध्वनिपरक व्याख्या करते हुये भट्टनायक की व्याख्याओं का निराकरण किया है। ध्वन्यालोक में—

धार्मिक निभय तोडिय गोदा कुंज स फूल।
हत्यौ वही के सिंह ने कूकुर तव भय मूल॥[3]

उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया गया है। आचार्य ने यहां पर सिंह आदि वस्तु ध्वनि को और धार्मिक इत्यादि पदों के प्रयोग में भयानक रस के आवेश से उद्भूत निषेध की प्रतीति मानी है[4] और वस्तु ध्वनि में दोष दिखलाते हुए इसमें रस की अनुग्राहकता स्वीकार की है।[5] अभिनव गुप्त ने भयानक रस के स्थानों में शृंगार सिद्ध किया है जो उचित ही है। भट्टनायक ने भी कदाचित् भ्रमण निषेध की प्रतीति के लिए ही भयानक रस का उल्लेख किया है। वस्तु ध्वनि रसानुग्राहकता के सम्बन्ध में उनकी खिल्ली उड़ाते हुए लोचनकार ने लिखा है, 'यह ध्वनि का

---

१ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स पी० वी० काणे, पृ० २२३-२२४।

२ तेन भट्टनायकेन द्विवचन दूषितम् तदगजनिमीलिकयैव। ध्व० ता०, पृ० १८९।

३ भ्रम धार्मिक विश्रब्ध इत्यादि, ध्वन्यालोक, प० १९।

४ यत्तु भट्टनायकेनोक्तम्—दृहदृप्तसिंहादिपद प्रयोगे च धार्मिक पद प्रयोगे च भयानकरसावेशकृतत्व निषेधावगति। ध्व० ता०, १२५।

५ किं च वस्तुध्वनिं दूषयता रसध्वनि स्तदनुग्राहक समर्थ्यते। ध्व०, पृ० १२७।

अच्छा खण्डन हुआ। श्रीमान का क्रोध भी हमारे लिए वरदान के समान है। यदि उनकी रसानुग्राहकता का तात्पर्य रस की प्रधानता से है तो यह हमारे पक्ष का ही समर्थन है। आक्षेपकर्त्ता भट्टनायक की दृष्टि में यदि यह वस्तुध्वनि का उचित उदाहरण न हो, तो काव्य का उदाहरण होने के कारण दोनों ध्वनियों भट्टनायक की दृष्टि से रसानुग्राहकता और ध्वनि की दृष्टि से वस्तु ध्वनि का उदाहरण मानने में कोई दोष नहीं है।

ध्वनि के तीनों प्रबल विरोधियों भट्टनायक, कुन्तक और महिमभट्ट की सबसे बड़ी कमजोरी यह रही कि वे काव्य में रस की प्रधानता का विरोध न कर सके। ध्वनि के समर्थकों के लिए उनकी यही मान्यता सबसे बड़ा बल था।

महामहोपाध्याय पी० वी० काणे के अनुसार भट्टनायक ध्वनि के उन विरोधियों में परिगणित होते हैं। वह उन लोगों के वर्ग में थे जिनको ध्वन्यालोक में ध्वनि के तत्व को कभी वाणी का विषय ही स्वीकार न करने वाला माना गया है।

धनंजय और धनिक का ध्वनि विरोध—

दशरूपक की कारिकाओं की रचना धनञ्जय ने की है और उस पर अवलोक नामक वृत्ति की रचना उनके भाई धनिक ने की है। दोनों ही भाई अभिहितान्वयवादी भट्ट मीमांसकों से अत्यधिक प्रभावित हैं और उनकी भाँति शब्द की केवल तीन ही वृत्तियाँ मानते हैं। ये दोनों भाई शब्द की चतुर्थ शक्ति व्यंजना के कट्टर विरोधी हैं। उन्होंने रस-बोध भी तात्पर्या शक्ति से ही स्वीकार किया है।

ध्वनिवादी आचार्य रस-बोध केवल व्यंजना से ही स्वीकार करते हैं इसलिए व्यंजना का *खण्डन करने के लिए अवलोककार धनिक ने पहले आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त का सिद्धान्त* सारांश पूर्वपक्ष के रूप में प्रस्तुत किया है और तत्पश्चात् उसको अमान्य सिद्ध करके यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि रस बोध भी तात्पर्या शक्ति से हो सकता है, अलंकार और वस्तु बोध को *तो ध्वनिवादी भी वाच्य स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ पर पूर्व पक्ष को उद्धृत करने की आवश्यकता* नहीं है। केवल उत्तर पक्ष का सारांश ही नीचे दिया जाता है।

लौकिक वाक्यों में दो प्रकार के पदों का प्रयोग होता है, एक कारक पद, दूसरा क्रिया पद। इन्हीं को वैयाकरणों ने क्रमशः सिद्ध और साध्य नाम दिया है। साध्य को विधेय भी कहा जाता है। वाक्य का तात्पर्य अथवा वाक्यार्थ साध्य ही है सिद्ध नहीं। फलतः क्रिया में ही वाक्य का तात्पर्य निहित होता है। इस वाक्यार्थ प्रकाशिनी क्रिया के वाचक शब्द वाक्य में मौजूद भी रह सकते हैं और नहीं भी। जहाँ पर क्रिया का वाचक पद है वहाँ क्रिया वाच्य ही होगी और अन्यत्र प्रकरणादि की सहायता से क्रिया बुद्धिस्थ रहेगी। इन दोनों ही स्थान पर क्रिया ही कारकों द्वारा पुष्टि होकर वाक्यार्थ का रूप धारण करेगी। इसको स्पष्ट करने के लिए दो उदाहरण लें। प्रथम तुम गाय ले जाओ। इस वाक्य में 'ले जाओ' क्रियापद है जो ले जाना क्रिया का वाचक है। यह वाच्य क्रिया ही 'तुम' और गाय कारकों से पुष्ट होकर वाक्यार्थ के रूप में परिणत होती है। यह वाक्यार्थ ही वक्ता का तात्पर्य अथवा अभीष्ट अर्थ है। वक्ता यही कहना चाहता है। इसी प्रकार अन्य लौकिक वाक्यों में वाच्य क्रिया ही वाक्यार्थ का रूप धारण करेगी। दूसरा वाक्य वह हो सकता है जिसमें क्रिया प्रयम वाक्य की भाँति श्रूयमाण न होगी। यथा द्वार, द्वार इस वाक्य में क्रिया के लिए वाचक पद नहीं है। यहाँ पर वक्ता वाक्य में क्रिया के वाचक पद का प्रयोग नहीं

कर रहा है, परन्तु वक्ता की अभीष्ट क्रिया उसकी परिस्थिति, अथवा संकेतादि के द्वारा शीघ्र ही श्रोता को बुद्धिस्थ हो जाती है। यथा यदि वक्ता बाहर से दौड़ता आ रहा है तो 'द्वार-द्वार' वाक्य से 'दरवाजा बन्द करो' वक्ता का अभीष्ट अर्थ होगा और यदि वह कक्ष के भीतर से दरवाजा खटखटाता हुआ 'द्वार-द्वार' वाक्य का प्रयोग करता है तो 'दरवाजा खोलो' उसका तात्पर्य श्रोता प्रकरण की सहायता से बुद्धिस्थ कर लेगा।

ऊपर जो बात लौकिक वाक्यों के सम्बन्ध में कही गयी है, वही काव्य के सम्बन्ध में कही जा सकती है। काव्य में कभी-कभी तो रसादि भाव के वाचक शब्दों का साक्षात् उपादान होता है यथा 'नवोढा प्रियतमा प्रीति बढ़ाती है।' इस सम्बन्ध में रति भाव के वाचक पद 'प्रीति' का साक्षात प्रयोग है। काव्य में कुछ ऐसे भी उदाहरण होंगे जिनमें लौकिक वाक्यों की भांति रस अथवा भाव वाचक पदों का साक्षात उपादान नहीं होगा। ऐसे वाक्यों में प्रकरणादिक की सहायता से बुद्धिस्थ रत्यादि स्थायीभाव काव्य के वाक्यार्थ होंगे। काव्य में विभाव, अनुभाव और संचारी काव्य के प्रकरणादि हैं और इनका वर्णन तो वाचकतया ही होता है। इन विभावादि के साथ स्थायी भाव का अविनाभाव सम्बन्ध होता है। अतः सहृदय भावक के चित्त में साक्षात विभावादि संस्कार परम्परा के कारण रत्यादि स्थायी भावों को पुष्ट करते हैं।

रसादि व्यंजक काव्य में भी रस ही वक्ता अथवा कवि का प्रधान प्रयोजन होता है अर्थात वही काव्यादि में प्रयुक्त वाक्यों का तात्पर्यार्थ है जिस प्रकार अभिधा शक्ति का साध्य वाच्यार्थ है और लक्षणा शक्ति का साध्य लक्ष्यार्थ है, ठीक उसी प्रकार तात्पर्याशक्ति का साध्य तात्पर्यार्थ है। यही तात्पर्यार्थ वक्ता का अभीष्ट प्रयोजन है। लौकिक अथवा वैदिक सभी वाक्य कार्यपरक होते हैं। वक्ता का प्रयोजन ही इनका कार्य है। अतः जहां तक वक्ता का प्रयोजन होगा वहीं तक तात्पर्या शक्ति का क्षेत्र होगा। उसकी सीमा वहीं तक मानी जायगी। इस शक्ति के सम्बन्ध में निर्णयात्मक रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि यह अमुक स्थान तक ही जा सकेगी।[1]

काव्य के शब्दों का विभावादि रूप अर्थ से अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। काव्य के शब्दों से उन्हीं विभावादि का बोध होता है जिन विभावादि के ये वाचक हैं। उनके वाचक शब्दों के प्रयोग के अभाव में उनका बोध नहीं होता है। ये विभावादि ही निरतिशय सुख के आस्वादि रूप अलौकिक रस की चर्वणा के प्रतिपादक और रस अथवा भाव इनके प्रतिपाद्य। फलतः काव्य काव्योपादान, विभावादि तथा स्थायी भाव तथा रसादि के सम्बन्ध की पर्यालोचना से सिद्ध होता है कि सहृदय पाठक के हृदय में निरतिशय सुखास्वाद उत्पन्न करना ही काव्य का कार्य अथवा प्रयोजन है। इसके अतिरिक्त कोई दूसरा प्रयोजन दिखाई नहीं पड़ता है। इसलिए आनन्दानुभूति ही काव्य का कार्य निश्चित होती है। इसकी उत्पत्ति में विभावादि-संसृष्ट स्थायी ही निमित्त है। इसलिए काव्य प्रयुक्त वाक्य की तात्पर्य-शक्ति काव्य के प्रयोजन उस रस की प्रतीति के लिए अपेक्षित विभावादि के प्रतिपादन द्वारा रस-बोध कराकर पर्यवसित हो जाती है। इस प्रकार काव्य वाक्य है, विभावादि पदार्थ और तत्संसृष्ट रत्यादि भाव वाक्यार्थ हैं। यह तात्पर्य शक्ति का ही क्षेत्र है।

---

१ यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम्।
—दशरूपक ४ कारिका

गीतादि से उत्पन्न सुखवाला दृष्टांत भी काव्य एवं रस के विषय में देना ठीक नहीं है। कारण, काव्य से रसानुभूति विशिष्ट भावादि सामग्री का ज्ञान रखने वाले एवं उस प्रकार की रत्यादि भावना से युक्ति सहृदयों को ही होती है। रसादि अथवा रत्यादि भावों को काव्य का वाक्यार्थ निश्चित कर देने पर अभिधा लक्षणा और तात्पर्य शक्ति से ही अवतक समस्त वाक्यार्थ श्रूयमाण एवं अश्रूयमाण की प्रतीति होती है। फलत व्यंजना नामक अलग शक्ति की कल्पना व्यर्थ का प्रयत्न है। वास्तव मे तात्पर्या के अतिरिक्त व्यजना शक्ति नही है।[१]

"पूजक निर्भय तोडिये' मे निर्भय पुष्प चयन करें, रूप विधि इत्यादि को ही यदि अपेक्षा की पूर्णता स्वीकार कर लिया जाय और यह कहा जाय कि यही वाक्य का प्रतिपाद्य है और यही तक तात्पर्यशक्ति को माना जाय तो वक्ता की विवक्षा पूर्णता 'निषेधादि' तक ही तात्पर्य शक्ति को क्या नही स्वीकार किया जाता। लौकिक अथवा पौरुषेय वाक्य की कोई विवक्षा अवश्य होती है। वाक्य इसी विवक्षा की अभिव्यक्ति के लिए प्रयुक्त होता है अतएव वह विवक्षापरतन्त्र है। लौकिक वाक्य म तात्पर्यार्थ उसी वस्तु म होगा जो वक्ता की विवक्षा है। इसी लौकिक वाक्य की भांति काव्यादि म भी रसादि उसका तात्पर्यार्थ ही है व्यंग्य अथवा ध्वनि नहीं है। धनंजय क मत का यही साराश है। इसका खण्डन अभिनवगुप्त और मम्मट आदि आचार्यों ने किया है जिसका उल्लेख द्वितीय अध्याय म किया जायगा।

कुन्तक की ध्वनि-उपेक्षा—

आचार्य कुन्तक ने "ध्वनि-सिद्धान्त' का समय विरोध किया। वह ध्वनि सिद्धात से पूर्ण परिचित थे। उसकी प्रवर्तना उनसे लगभग १०० वर्ष पहिले काश्मीर में ही हो चुकी थी। ध्वनि-सिद्धान्त का उग्र विरोध करने के लिए ही उन्होंने वक्रोक्ति-सिद्धान्त का प्रवर्तन किया। आचार्य ने स्वप्रणीत ग्रन्थ वक्रोक्ति जीवित मे ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने की महिमभट्ट की भांति प्रतिज्ञा कहीं नहीं की है। अत कुन्तक को 'ध्वनि की उपेक्षा करने वाला आचार्य स्वीकार करना अधिक सगत जान पड़ता है। उपेक्षा मे उत्कटम विरोध संनिविष्ट रहता है।

जिस वक्रोक्ति को काव्य के जीवित रूप म प्रतिष्ठित करने का प्रयत्न कुन्तक ने किया, उसके सबल सकेत संस्कृत साहित्य एवं का य-शास्त्र म पहिले से ही विद्यमान थे। संस्कृत साहित्य मे बाण की कादम्बरी मे वक्रोक्ति का व्यापक अर्थ मे प्रयोग प्राप्त होता है। भामह ने अपने काव्यालंकार में भी "वक्रोक्ति को उसके व्यापक अर्थ म ही ग्रहण किया है। भामह की 'वक्रोक्ति' के प्रति वस्तुपरक दृष्टि है और उनके अनुसार हर प्रकार के काव्य चमत्कार की प्राप्ति के लिए इसका समावेश अनिवार्य है।

दण्डी भी वक्रोक्ति को अलकार विशेष न मानकर "उक्तिवैचित्र्य' के रूप मे स्वीकार करते हैं। दण्डी के लिए वक्रोक्ति काव्य चमत्कारोत्पादक तत्व है। उसमें लोकातिक्रान्तगोचर तत्व विद्यमान रहता है। स्पष्ट है कि दण्डी की वक्रोक्ति भी साधारण अलकार न होकर व्यापक काव्य-चमत्कार ही है।

---

१ तात्पर्यानतिरेकाच्च व्यञ्जनीयस्य न ध्वनि । दशरूपक

दण्डी के पश्चात् 'वक्रोक्ति' का अर्थ संकुचित हो गया और वह केवल एक अलंकार विशेष माना जाने लगा। वामन और रुद्रट ने उसे अलंकार ही माना है। परन्तु आनन्दवर्द्धन ने प्राय भामह के पक्ष का ही अवलम्बन किया है।

आनन्दवर्द्धन ने काव्य का लक्षण "सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वं काव्यलक्षणं" किया था। काव्य का यह लक्षण व्यक्ति परक अथवा आत्मनिष्ठ दृष्टि से किया गया है और वस्तु परक दृष्टि की सर्वथा उपेक्षा कर दी गई है। कवि की अपनी कृति मे उसकी एकान्त अवहेलना बहुतो को अच्छी न लगी। काव्य का यह लक्षण काव्य विशेष का लक्षण तो माना जा सकता है परन्तु काव्य सामान्य का लक्षण स्वीकार करने म कठिनाई पडी। साहित्य दर्पणकार की स्थिति 'वाक्य रसात्मक काव्यम मानकर जो दशा हुई, वही आनन्द के लक्षण की हुई। कुन्तक इसी व्यक्तिनिष्ठ दृष्टि के विपरीत एकान्त वस्तु परक दृष्टि लेकर ध्वनि का उपेक्षात्मक विरोध करने के लिए 'वक्रोक्ति' म समग्र काव्य वभव रस वस्तु, अलकार को समेटने के लिए प्रयत्नशील हुए, यह सत्य है कि काव्य के जिन सौन्दर्य भेदो की आनन्दवर्धन ने ध्वनि के द्वारा आत्मपरक व्याख्या की थी, उन सभी की कुन्तक ने अपनी अपूर्व मेधा के बल पर वक्रोक्ति के द्वारा वस्तुपरक विवेचना प्रस्तुत करने की चेष्टा की। वक्रोक्ति प्राय ध्वनि की वस्तुगत परिकल्पना ही है।[1] इसलिए कुछ विद्वान दोनो मे भेद स्वीकार करते हैं।[2]

यह प्रारम्भ मे स्वीकार किया जा चुका है कि कुन्तक ने ध्वनि का अपने ग्रन्थ म प्रत्यक्ष खण्डन कही पर नही किया है। उन्होने तो ध्वनि के समान ही एक समर्थ काव्य सिद्धान्त प्रस्तुत करने की चेष्टा की है। परन्तु जिस ध्वनि साम्य को लेकर वे ध्वनि का वक्रोक्ति मे अन्तर्भाव करने चले थे। वही साम्य उनके सिद्धान्त के लिए घातक सिद्ध हुआ। वस्तुत जब लोगो ने यह देखा कि कुन्तक वक्रोक्ति द्वारा प्रकारान्तर से वही बात कह रहे हैं जो 'आनन्द' ध्वनि के द्वारा कह चुके हैं, तो उन्होने उसकी उपेक्षा की और कभी उसका नाम न लिया। संस्कृत काव्य शास्त्र म भी उसका अनुकरण न हुआ। महिम भट्ट न तो ध्वनि सिद्धान्त के इस साम्य के कारण ही कुन्तक की कटु आलोचना की और कहा "कुन्तक की वक्रोक्ति ध्वनि से अभिन्न है। उसमें मार्गान्तर के आग्रह को छोडकर और कोई विशेषता नही है। इसलिए ध्वनि के समान उसका भी अनुमान म अन्तर्भाव सर्वथा सम्भव है।'[3]

वक्रोक्ति का ध्वनि साम्य उसके लिए घातक बन गया। आगे के विचारको ने उसको नया मार्ग चलाने का आग्रह समझ कर त्याग दिया। यहा वक्रोक्ति का ध्वनि के साथ साम्य स्पष्ट कर देना प्रासंगिक जान पडता है। इस साम्य को बाह्य और आन्तरिक साम्य दो भेदो मे विभक्त कर लेना सुविधाजनक होगा।

बाह्य साम्य

ध्वन्यालोक और वक्रोक्ति जीवित दोनो ग्रन्थो की प्रबन्ध-कल्पना मे प्राय पूर्ण साम्य है। ध्वन्यालोक चार उद्योतो में समाप्त हुआ है और वक्रोक्ति जीवित चार उन्मेषों म। दोनो ही ग्रन्थ

---

१ डा० नगेन्द्र-वक्रोक्ति जीवित भूमिका, पृ० १६३।
२ वक्रोक्ति और अभिव्यंजना, प० ६८।
३ व्यक्ति विवेक, प० १२७।

मे मूल सिद्धात का प्रतिपादन कारिकाम्रो म हुम्रा है। ध्वन्यालोक के कारिका भाग का नाम 'ध्वनि' है और वक्रोक्ति जीवित के कारिका भाग का 'काव्यालकार'। ध्वनिकारिकाम्रो पर लिखी जाने वाली वृत्ति जिस प्रकार 'म्रालोक नाम से प्रसिद्ध है उसी प्रकार इसका वत्ति भाग वक्रोक्ति जीवित नाम से। दोनो ही म उदाहरग वत्ति भाग म दिये गय हैं। 'वक्रोक्ति जीवित' म उद्धृत उदाहरण भी कही कही ध्वन्यालाक स ही लिए गय हैं। ध्वन्यालोक के चतुथ उद्योत की भाति वक्रोक्ति जीवित का चतुथ उन्मेष भी लघुकाय है। विषय प्रतिपादन की शाली मे भी साम्य है।

म्रातरिक साम्य

ध्वनि के द्वारा म्रानन्द ने काव्य के जिस चमत्कार का उद्घाटन किया था उसकी म्रवहेलना ध्वनि विरोधी प्राय न कर सके। रसध्वनि क चमत्कार को भट्ट नायक, कुन्तक और महिम सभी काव्य का सर्वोत्तम चमत्कार स्वीकार करते हैं। महिम ने यहाँ तक कह दिया है कि रस की प्रधानता के सम्बन्ध म क्या किसी की विप्रतिपत्ति हो सकती है।[1] ध्वन्यालोक और वक्रोक्ति जीविता का सर्व प्रथम म्रातरिक साम्य ध्वनि म्रार वक्रोक्ति म लक्षणा म है। दोना की तुलनात्मक समीक्षा करने पर यह निष्कष निकलता है—

दोनो ही म्राचार्य काव्य का चमत्कार वाच्यवाचक से भिन्न मानने के पक्ष मे हैं। म्रानन्दवद्धन ध्वनि के द्वारा म्रभिव्यक्ति स्वीकार करते हैं और कुन्तक 'विचित्रा म्रभिधा के द्वारा। दोनो की दृष्टि मे यह वचित्र्यसिद्धि म्रलौकिक प्रतिभाजन्य है। इस प्रकार दोना मे प्राय स्वरूप साम्य है।

स्वरूप साम्य की म्रपेक्षा ध्वनि और वक्रोक्ति क भेद प्रस्तार म और भी म्रधिक साम्य है। इसी भेद प्रस्तार साम्य को देखकर का यप्रकाश की बालबोधिनी टीका के लेखक ने अपनी भूमिका म लिखा, 'कुन्तक ने उपचार वक्रता इत्यादि से म्रान द का सम्पूण ध्वनि प्रपच स्वीकार कर लिया है।[2] कहने का म्रभिप्राय यह है कि दोना म समान व्यापकता है।

म्रानन्द की व्यजकता और कुन्तक की वक्रता पर्याय जान पडता है। म्रानन्द ने ध्वनि वाच्य के दो भेद स्वीकार किये थे—१ म्रविवक्षित वाच्य ध्वनि और २ विवक्षित वाच्य ध्वनि। इनम प्रथम के भी म्रर्थान्तर सक्रमित वाच्य और म्रत्यन्त तिरस्कृत वाच्य भेद किये थे। कुन्तक की रूढि वचित्र्य-वक्रता उपयुक्त म्रर्थान्तर सक्रमित वाच्य ध्वनि की भिन्न सज्ञा मात्र है। कुन्तक के उदाहरण भी ध्वन्यालोक के हैं और उसी लाक्षणिक चमत्कार की ओर उनका सकेत है। सवृत्ति वक्रता का भी इसी भेद क म्रन्तगत म्रन्तर्भाव हो सकता है। उपचार वक्रता म्रत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का ही रूपान्तर है। उपचार वक्रता म भी उपचार लक्षणा का ही चमत्कार है। पर्याय वक्रता का म्रन्तर्भाव शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम-व्यग्य स्वय म्राचाय कुन्तक को भी मान्य है।

'एष एव शब्द शक्तिमूलानुरणनरूपव्यग्यस्य पदध्वनेर्विषय ।[3]

---

१ व्यक्तिविवेक पृ० १०५ काव्यस्यात्मनि सज्ञिनि रसादिरूपकस्यचिन्मिति ।

२ उपचार वक्रतादिभि समस्तो ध्वनिप्रपच स्वीकृत ।

—वा० वा० भलकीकर प्रस्तावना पृ० ३

३ व्यक्तिविवेक २।१२ वृत्तिभाग ।

इस प्रकार वक्रोक्ति जीवित के समस्त प्रसग का ध्वनि मे अन्तर्भाव किया जा सकता है। परन्तु आनन्द की आत्मनिष्ठ' समालोचना-पद्धति म वस्तु की उपेक्षा सन्निहित है और कुन्तक की पद्धति में व्यक्ति की। दोनो के समन्वय से समालोचना की स्वस्थ परम्परा का रूप स्थिर हो सकता है।

आचाय महिमभटट का ध्वनि विरोध

ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए महिमभटट ने व्यक्ति विवेक नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ के नाम से स्पष्ट है कि वह शब्द की चतुथ शक्ति 'व्यक्ति' की आलोचना करने के लिए लिखा गया है। ग्रन्थ का लेखक व्यग्याथ को प्रकट करने वाली व्यजना शक्ति को मानने वाले और उसका समथन करने वाले आचार्यों की विवेकहीनता' प्रकट करना चाहता था। ग्रन्थ के प्रारम्भ म व्यजना का 'अनुमान' म अन्तर्भाव करके ध्वनि सिद्धान्त का खोखलापन सिद्ध करने की उसने प्रतिज्ञा की थी।[1]

आनन्दवद्धन ने ध्वनि की व्याख्या व्यक्ति निष्ठ अथवा आत्मनिष्ठ दृष्टि से की थी। कुन्तक ने वक्रोक्ति जीवित म विषयनिष्ठ दृष्टि स वक्रोक्ति का प्रतिपादन किया, परन्तु महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त पर दुहरा आक्रमण किया था। उनका दृष्टिकोण कही विषयनिष्ठ है और कही आत्मनिष्ठ।[2] उन्होने रस का आत्मनिष्ठ स्वीकार कर लिया है परन्तु अलकार ध्वनि और वस्तुध्वनि की विषयनिष्ठ दृष्टि से आलोचना की है। महिमभटट अभिमानी प्रकृति के व्यक्ति थे और दूसरे आचार्यों को नगण्य समझते थे।[3] साथ ही वह प्रसिद्धि भी शीघ्र प्राप्त करना चाहते थे और वह उन्हें आनन्दवधन और कुन्तक जसे प्रतिष्ठित आचार्यों के खण्डन से मिलती जान पडी।[4] महिमभट्ट नयायिक नही थे परन्तु काश्मीर की शव परम्परा को मानने वाले थे।[5]

सम्पूण ग्रन्थ तीन विमर्शों म विभाजित है, प्रथम का ध्वनिलक्षणाक्षप, द्वितीय का शब्दानौचित्यविचार और तृतीय का अन्तर्भावोपदशन नाम रखा गया है। प्रथम विमर्श में ध्वनि लक्षण के दोषा के उद्घाटन करने का प्रयत्न है, दूसरे विमश में काव्य के बहिरग-शब्द से सम्बद्ध पाँच दोषा विधेयाविमर्श, प्रक्रमभद, क्रमभेद पौनरुक्त्य और वाच्यावचन का उल्लेख है। सम्पूण द्वितीय विमश (१४८, ३६८) इन्ही दोषो के लक्षण और उदाहरण देने म समाप्त हुआ है। तृतीय विमश मे लेखक ने ध्वन्यालोक के लगभग चालीस उदाहरणो की व्याख्या करके उनका अनुमान म अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। वस्तुत प्रथम और अन्तिम विमर्श ही ऐसे हैं जिनमे ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन समाविष्ट है।

---

१ अनुमानेऽन्तर्भाव सवस्यव ध्वने प्रकाशयितुम्।
व्यक्तिविवेक कुरुत प्रणम्य महिमा परा वाचम्। वि० १–१।

२ के० सी० पाडेय, इण्डियन ऐस्थेटिक्स पृ० ३२१।

३ मधुसूदनी टीका द्वितीय विमश का प्रारम्भ।

४ व्यक्तिविवेक १–३।

५ डा० के० सी० पाण्डेय।

ध्वन्यालोक म ध्वनि का लक्षण प्रथम उद्योत की तेरहवी कारिका मे किया गया है।[१] व्यक्तिविवेककार ने इस लक्षण म निम्नलिखित दस दोष दिखलाये हैं—

१ अर्थ के साथ उपसर्जनीकृत स्वार्थ विशेषण का प्रयोग अनुचित एव अनावश्यक है।

२ शब्द का अभिधा के अतिरिक्त दूसरा व्यापार ही नही होता, इस 'शब्द' का प्रयोग करने की आवश्यकता ही नहा थी।

३ शब्द के अप्रयोग म शब्द का विशेषण 'उपसर्जनीकृत स्वार्थ' भी अनावश्यक सिद्ध हो जाता है।

४ 'तम्' में पुंल्लिग का प्रयोग भी अनुचित है।

५ 'व्यक्त' द्विवचन का प्रयोग दोषपूर्ण है।

६ 'वा' निपात का प्रयोग भी दोषपूर्ण है।

७ 'व्यञ्ज' धातु के प्रयोग से लक्षण में अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोष आ जाते है।

८ काव्य के ही दूसरे 'ध्वनि' नामकरण म वफल्य दोष का समावेश होता है।

९ 'काव्य विशेष' मे 'विशेष' कथन म अवाच्यवचन दोष है।

१० 'कथित' क्रिया के कर्ता का प्रयोग लक्षण मे अनावश्यक है और अवाच्यवचन दोष है।

इन दस दोषो के अतिरिक्त और भी दोष हैं जो भेदादि के लक्षणो स सम्बद्ध हैं अतएव उनकी गणना नही कराई गई है।[२]

आचार्य ने ध्वनिकार के ध्वनि लक्षण को अनेक दोषदुष्ट सिद्ध करने का असफल प्रयास करके अनुमिति का शुद्ध लक्षण यह दिया है —

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तर प्रकाशयति ।
सम्बन्धत कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥[३]

'जहा वाच्यार्थ अथवा उससे अनुमित अर्थ किसी सम्बन्ध स अन्य अर्थ को प्रकाशित करता है, उसे काव्यानुमिति कहा गया है।

महिमभट्ट का आग्रह है कि जिस प्रकार ध्वनि लक्षण म अभिधेयार्थ और उसके विशेषण का ग्रहण किया गया है उसी प्रकार उसम अभिधा का ग्रहण भी चाहिये था। इस सन्दर्भ में वे अभिधा को अलङ्कार के अर्थ मे ग्रहण करके वक्रोक्तिजीवितकार का अनुकरण करते जान पडते हैं। उन्होंने कुन्तक के 'भगीभणिति' पद का प्रयोग भी किया है। उनका मत है कि अभिधा का प्रयोग न होने से लक्षण की अव्याप्ति के कारण दीपक अलकार म, जहा उपमान्ति की प्रतीति होती है, 'ध्वनि' अभीष्ट न होगी और ध्वनि का लक्षण अव्याप्ति दोषयुक्त हो जायगा।[४]

---

१ ध्वन्यालोक, १-१३।

२ व्यक्ति विवेक, १-२३-२४ एव मधुसूदनी विवृति पृ० १०४।

३ वही, पृ० १०५।

४ व्यक्ति विवेक, पृ० १८-१९।

आचार्य को काव्य का 'ध्वनि' और गुणीभूत-व्यंग्य में विभाजन भी मान्य नहीं है।[1] उनको वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि को ध्वनि नाम देने में भी आपत्ति है क्योंकि उनमें क्रम सुलक्षित रहता है और 'ध्वनिवादी' ध्वनि मे प्रकाशक प्रकाशित सम्बन्ध से क्रम नही मानते हैं। रस के सम्बन्ध मे 'ध्वनि' शब्द का प्रयोग किसी प्रकार क्षम्य माना जा सकता है।

भर्तृहरि ने अर्थ दो प्रकार का स्वीकार किया था, मुख्य और गौण।[2] महिम भी अर्थ के दो ही भेद स्वीकार करते हैं। अभिधेय (मुख्य) और अनुमेय। इस अनुमेयार्थ में ही उनका तात्पर्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का अन्तर्भाव स्वीकार्य है।[3] यहां तक कि वे तीनों प्रकार की ध्वनि को भी अनुमेयार्थ अथवा अनुमितानुमेय मे गतार्थ स्वीकार करते हैं।[4] इस अनुमितानुमेयार्थ को ध्वनि नाम देने में भी उनको कोई आपत्ति नहीं जान पड़ती है।[5] ध्वनिवादी शब्द, अर्थ, व्यंजना, काव्य आदि सभी को 'ध्वनि' नाम देते हैं परन्तु आचार्य को ध्वनि के ये विभिन्न अर्थ उचित नहीं जान पड़ते हैं। वह इनका विरोध करते हैं।[6] ध्वनि के उदाहरणों का [illegible] *व्यक्तिविवेक के तृतीय विमर्श मे किया गया है उनमे से कुछ उदाहरणों मे तो उन्होंने [illegible] सद्भाव ही स्वीकार नही किया है, कुछ में व्यंग्यार्थ स्वीकार करके उसका अन्तर्भाव [illegible]* किया है। उनका अध्ययन प्रस्तुत प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय मे किया जायगा।

'ध्वनि' का विरोध करते हुए भी महिमभट्ट की कतिपय महत्वपूर्ण [illegible] वादियों से पूर्ण मेल खाती हैं। ध्वन्यालोककार ने रस को ध्वनि की भी आत्मा [illegible] है। लोचनकार ने अपनी टीका में स्थान-स्थान पर रस को काव्य की आत्मा [illegible] किया है। महिम ने भी रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया है।[7] [illegible] इतना ही है कि ध्वनिवादी रस को आक्षिप्त अथवा ध्वनित स्वीकार [illegible] अनुमितार्थ स्वीकार करते हैं।

रस परिपाक के सम्बन्ध मे अभिनव से पूर्व यथेष्ट विचार [illegible] ने रस-परिपाक के चार सिद्धान्तो का उल्लेख किया है। उनमें [illegible] है। रस-परिपाक के सम्बन्ध मे वह शंकुक के अनुयायी हैं और [illegible] आधार ग्रहण किया है। अभिनव भारती में अभिनवगुप्त ने शंकुक के [illegible] से खण्डन किया है वे ही उनके विरुद्ध भी दिये जा सकते हैं। [illegible] भारती की ओर न गई हो।

उन्होंने रस को ध्वनिवादियो की भांति आत्मनिष्ठ [illegible] उनके मत से रसानुभूति म सहृदयत्व ही मुख्य कारण है।[8] [illegible]

---

१ वही, पृ० १३६।

२ डा० के० सी० पाण्डेय, इण्डियन एस्थेटिक्स, [illegible]

३ वही, पृ० ३४६।

४ व्यक्ति विवेक, पृ० ३६।

५ डा० के० सी० पाण्डेय, इण्डियन एस्थेटिक्स, [illegible]

६ वही, पृ० ३५०-५१।

७ काव्यस्यात्मनि सगिनी रसादिरूपे न [illegible]

८ व्यक्ति विवेक, पृ० ६७।

सम्बन्ध में भट्टनायक का अनुवर्तन स्वीकार किया है। 'रस अलौकिक अनुमिति होने के कारण ही चमत्कार युक्त है।'

ध्वनिवादियों के मत से प्रतीयमानार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रायः चारुता सम्पन्न होता है। उनकी दृष्टि से भी प्रतीयमानार्थ में वाच्यार्थ की अपेक्षा अधिक स्वाद प्राप्त होता है।

'न च मुख्यतिऽवाच्योऽथ प्रतीयमान स एव यथा।'[1]

प्रायः ऐसे ही कारणों से इनका विद्वत्समाज में समादर न हुआ।

ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन और उसकी प्रतिष्ठा

आचार्य अभिनव और ध्वनि

संस्कृत काव्य शास्त्र में आनन्दवर्धन युग प्रवर्तक आचार्य हुए हैं और अभिनवगुप्त युगप्रतिष्ठापक। युगप्रवर्तनकारी जिस ध्वनि सिद्धान्त का आनन्दवर्धन ने प्रवर्तन किया था, आचार्य अभिनव गुप्त ने, उसकी ऐसी प्रतिष्ठा की कि आगे आने वाले आचार्य इस मार्ग का अतिक्रमण न कर सके। लोचन टीका का काव्य-शास्त्र में ठीक वही स्थान, प्रतिष्ठा और महत्व है जो व्याकरण के क्षेत्र में पतंजलि के महाभाष्य का और वेदान्त में जगद्गुरु शंकराचार्य के शारीरिक भाष्य का।[2] वे शैव परम्परा के उच्चकोटि के दार्शनिक विद्वान थे। ध्वन्यालोक की लोचन टीका लिखकर ध्वनि सिद्धान्त को इन्होंने दर्शन और मनोविज्ञान की स्थिर भूमि पर खड़ा कर दिया। यह अत्यन्त महत्वपूर्ण और सशक्त टीका है जिसे साहित्यशास्त्र का महाभाष्य कहा जा सकता है। इस टीका में विषय प्रतिपादन में उच्चकोटि की तर्क पद्धति का आश्रय लिया गया है। इसमें ध्वन्यालोक के दुरूह स्थानों को स्पष्ट करने का सराहनीय प्रयत्न किया गया है। इस प्रयत्न से इसका लोचन नाम सार्थक सिद्ध होता है। परन्तु स्थान स्थान पर टीकाकार ने अपनी मौलिक विचारधारा का भी उल्लेख किया है।

लोचन के प्रणयन से पूर्व ध्वन्यालोक पर 'चन्द्रिका' नाम की टीका उन्हीं के किन्हीं पूर्ववंश्य के द्वारा लिखी जा चुकी थी परन्तु उससे ग्रन्थ का आशय यथावत स्पष्ट नहीं होता था। अतः लोचन में स्थान-स्थान पर उसकी आलोचना की गई है।[3] प्रथम और तृतीय उद्योत के अन्त में उन्होंने लिखा है कि लोचन बिनालोको भाति चन्द्रिकयापिहि अर्थात् क्या चन्द्रिका की सहायता से आलोक, बिना लोचन के शोभा पाता है? यह निःसन्देह ठीक है कि लोचन के उन्मीलन से ध्वनि सिद्धान्त का स्पष्ट दर्शन हो सके। इस टीका से पूर्व भट्टनायक के 'हृदयदर्पण' नामक ग्रन्थ की भी रचना हो चुकी थी। इसमें ध्वनि का खण्डन किया गया था। चन्द्रिका टीका और हृदयदर्पण के द्वारा ध्वनि सिद्धान्त के सम्बन्ध में जो-जो विप्रतिपत्तियाँ और शंकायें खड़ी हो चुकी थीं, उनका लोचन में तर्कपूर्ण उत्तर मिलता है। 'चन्द्रिका की भाँति हृदयदर्पण के ध्वनि खण्डन की भी स्थान स्थान पर तर्कपूर्ण आलोचना की गई है।'[4] कहने का तात्पर्य यह है कि

---

१ वही, पृ० ७४।

२ हिस्ट्री आफ संस्कृत पोयटिक्स, पृ० २०३।

३ लोचन, पृ० १८१, २१७, २६६।

४ लोचन, पृ० १४, १८, २३, २४, ३२।

लोचन की रचना से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त के विरुद्ध जितना ध्वान्त एकत्र हुआ था उस सबको लोचन ने दूर कर दिया।

आनन्दवर्धन ने ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन तो कर दिया था, परन्तु कारिका और वृत्ति के होते हुए भी विषय को सरलतर और स्पष्टतर करने की आवश्यकता बनी हुई थी। लोचन की रचना से इस आवश्यकता की सुन्दर पूर्ति हुई। ग्रन्थ के गूढ़ स्थलों को लोचनकार ने सरल, स्पष्ट और बोधगम्य कर दिया है। इस प्रकार के उदाहरण स्थान स्थान पर प्राप्त होते हैं। लोचन की रचना का यह प्रथम उद्देश्य रहा है।

ध्वन्यालोक की प्रथम कारिका मे ध्वनि-स्वरूप निरूपण करने की प्रतिज्ञा करके द्वितीय कारिका में उसके वाच्य और प्रतीयमान भेद करना असगत प्रतीत होता है। वृत्तिकार ने भी इस असगति का कोई सोपपत्तिक समाधान करने का प्रयत्न नही किया है। लोचनकार ने इस खटकने वाली असगति का सोपपत्तिक समाधान इस प्रकार करने का प्रयत्न किया है—

"प्रतीयमान विशेष अर्थ का आधार वाच्यार्थ ही है। वाच्यार्थ के अभाव में प्रतीयमान अर्थ की स्थिति ही नही हो सकती है। वाच्य अर्थ के साथ प्रतीयमान अर्थ को भी मुख्य माना गया है। इसी मुख्यता को प्रकट करने के लिए काव्यात्मा रूप से व्यवस्थित सहृदय श्लाघ्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान भेद किये गये हैं। ये दोनो अर्थ मुख्य हैं। जिस प्रकार वाच्य अर्थ का अपह्नव (छिपाना) सम्भव नही है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ का भी। द्वितीय कारिका में 'समतो' पद का प्रयोग प्रथम कारिका के जो पहले समाम्नात किया गया था, की पुष्टि करने के लिए ही हुआ है। काव्य की शब्द और अर्थ शरीर वाला माना गया है। शरीर के ग्रहण करने से ही यह स्वत सिद्ध हो जाता है कि उसमें कोई न कोई आत्मा अवश्य होनी चाहिए। उस आत्मा के सद्भाव से काव्य जीवित रह सकता है। शब्द को आत्मा का स्थान नही दिया जा सकता क्योंकि उसको शरीर भाग में सन्निविष्ट किया जा चुका है। जिस प्रकार शरीर की स्थूलता और कृशता आदि धर्म सर्वजन सवेद्य हैं उसी प्रकार सुनाई पडने के कारण यह शब्द का श्रावण प्रत्यक्ष है— शब्द भी प्रत्यक्ष ही है, अतएव आत्मा शब्द से भिन्न ही होनी चाहिए। शब्द के अतिरिक्त अब अर्थ की बात रही। वह अर्थ दो प्रकार का होता है उसमें एक अर्थ ऐसा होता है जिसमें कोई ऐसी विशेषता नहीं होती जो सहृदयो को अपनी ओर आकृष्ट कर सके। दूसरा अर्थ वस्तुत चमत्कारक होने के कारण सहृदय-श्लाघ्य होता है। इनमें प्रथम अर्थ शरीर स्थानीय ही है। द्वितीय प्रकार का अर्थ ही काव्य की आत्मा है। अर्थ शब्द की भांति सर्वजन संवेद्य नहीं होता है। साथ ही अर्थ की सत्तामात्र से ही 'काव्य' की 'संज्ञा नही दी जा सकती है। अर्थ की सत्ता तो लौकिक और वैदिक वाक्यो में भी होती है। परन्तु उनको काव्य का नाम नहीं दिया जाता है। साधारण अर्थ से प्रतीयमान अर्थ की विशेषता प्रकट करने के लिए ही सहृदयश्लाघ्य और काव्यात्मा विशेषण दिये गये हैं। वह अर्थ तो वस्तुत एक ही है परन्तु विवेकशील उसको विवेचन की सरलता के लिए दो मार्गों में विभक्त कर लेते हैं। यद्यपि लौकिक और वैदिक वाक्यों में सन्निविष्ट रहने वाला भी अर्थ ही कहलाता है और काव्यात्मारूप से स्थित सहृदय-श्लाघ्य भी। दोनो को अर्थ नाम से अभिहित किया जाता है। इसलिये दोनों को एक दूसरे से अलग करने के लिए काव्यार्थ में लौकिक अर्थ की अपेक्षा कोई न कोई विशेषता स्वीकार करनी पडेगी। इन दोनों अर्थों में जो विशेष है, वही प्रतीयमान है। अर्थात जितना अर्थ समान है उसे वाच्य कहते

हैं। विशेषता के कारण ही प्रतीयमान अर्थ काव्य की आत्मा माना जाता है। परन्तु प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थ के साथ मिश्रित रहता है जिसके व्यामोह में पडकर दोनो की एकता मानने वाले कुछ असहृदय व्यक्ति प्रतीयमान अर्थ का विरोध करते हैं। जसे चार्वाक लोग शरीर स अतिरिक्त आत्मा की सत्ता नही स्वीकार करते उसी प्रकार यहाँ भी कतिपय लोग वाच्य को ही काव्य का सवस्व स्वीकार कर लेते हैं। इसलिए ग्रन्थकार ने कारिका में 'अर्थ शब्द का एक वचन में प्रयोग किया है और उसका विशेषण दिया है 'सहृदश्लाघ्य'। यह विशेषण काव्यार्थ की विशेषता के हेतु को अभिव्यक्त करता है। दो भेद कहने का तात्पय यह कि उसके दो अश अथवा दो भाग हैं। भेद का अर्थ है अश। इन दोनो अर्थों के समिश्रण के कारण एकता की बुद्धि से एक वचन का प्रयोग कर दिया है और विभाग-बुद्धि से उसके दो अश अथवा भेद बतला दिये हैं। दोनो अर्थ काव्य की आत्मा नही होते। केवल प्रतीयमान ही काव्य की आत्मा होता है।''[1]

अभिनवगुप्त ने आपातत प्रतीत होने वाली उस असगति का सोपपत्तिक समाधान कर दिया है। लोचन की रचना का यह दूसरा उद्देश्य है। उसकी रचना का तीसरा उद्देश्य है ध्वनि सिद्धात से अन्य सिद्धातो का समन्वय। उदाहरण के लिये ध्वनि को अभिधा से भिन्न सिद्ध करने के लिये अभिहितान्वयवाद अन्विताभिधानवाद तात्पर्यवाद आदि सिद्धातों का भी उल्लेख करने ध्वनि को उनसे भिन्न सिद्ध किया है।[2]

ध्वनिकार ने जब ध्वनि सिद्धात प्रतिपादन कर दिया तो विद्वानो की दृष्टि उधर गई और उन्होने उस पर विचार करना प्रारम्भ कर दिया। लोचन की रचना होने तक ध्वनि सिद्धान्त पर यथेष्ट विचार विमश हुआ, ऐसा प्रतीत होता है। लोचनकार न यह सबसे बडा कार्य किया कि ध्वनिकार के समय से लेकर अपने समय तक होने वाले विचार विमश का निचोड लोचन मे यत्रतत्र सन्निहित कर दिया है। लोचन के अध्ययन से यह बात भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है। विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि के शब्द शक्ति मूल भद का श्लेष स अन्तर दिखाने के अवसर पर उन्होने अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यजना से होती है अथवा अभिधा से, इस सम्बन्ध म चार मतो का सग्रह किया है।[3] इन मतो का साराश यहा देने का अवकाश नही है।

ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य और गुणीभूत-व्यग्य काव्य के भेदों की ओर सकेत तो किया है पर तु उनकी सख्या नही गिनाई है। लोचनकार ने ध्वनि का य के भेदो की सख्या ३५ भी गिना दी है। इस प्रकार ध्वन्यालोक का स्पष्टीकरण और समथन करते हुए भी लोचन मे कुछ विशेष महत्वपूण उल्लेख प्राप्त होते हैं।

लोचनकार ने सवत्र ध्वनिकार का अनुवतन ही किया हो सो बात नही-कही उन्होने ध्वनिकार से अपनी असहमति भी प्रकट की है। उदाहरणत शब्दशक्ति मूल-ध्वनि के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध म इस प्रकार का अवसर आया है। शब्द शक्ति से जब आक्षिप्त होकर अलकार की प्रतीति होती है तो वह शब्दशक्ति मूल ध्वनि मानी जाती है। ध्वनिकार ने

---

१ लोचन, पृ० १५ हिन्दी रूपान्तर तारावती टीका की सहायता से।

२ वही प० २०, २३।

३ वही, प० १२०, १२१।

कादम्बरी से इसका उदाहरण दिया है। उस उदाहरण की परीक्षा करते हुये उन्होने लिखा है 'योग शक्ति से रूढि बलवान होती है इस न्याय का उल्लघन करते हुए 'महाकाल' आदि शब्द ऋतुपरक अर्थ को कहकर कृतकृत्य हो जाते हैं। इसके पश्चात् अप्राकरणिक शकर परक अर्थ की प्रतीति ध्वनन व्यापार से ही होती है।' ध्वनिकार अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते है और अभिनवगुप्त व्यजना से। इस स्थान पर उन्होने ध्वनिकार से अपनी असहमति प्रकट कर दी है।

यह सब होते हुए भी यदि अभिनव लोचन की रचना न करते तो कदाचित् मम्मट का काव्य प्रकाश भी काव्यशास्त्र को न मिल पाता। यह सत्य है कि ध्वनि सिद्धान्त के वैभव और व्यापकता के दर्शन लोचनोन्मीलन के पश्चात् ही हो सके।

आचार्य रुय्यक द्वारा महिम भट्ट के ध्वनि विरोध का उत्तर

जिस प्रकार महिमभट्ट ने ध्वनि सिद्धान्त का खण्डन करने के लिए व्यक्तिविवेक *नामक ग्रन्थ की रचना की उस प्रकार रुय्यक ने ध्वनि सिद्धान्त के समर्थन के लिए किसी ग्रन्थ* विशेष की रचना नही की। फिर भी ध्वनि समर्थन की दृष्टि से उनका महत्व किसी प्रकार कम नही है। उन्होंने व्यक्तिविवेक की टीका व्यक्ति विवेक व्याख्यान म ही महिमभट्ट के आक्षेपो का अत्यन्त व्युत्पन्न एव समर्थन उत्तर दिया है। यदि यह कह दिया जाय कि व्यक्तिविवेककार के अविवेक, वदतो याधात आदि दोषो का आचार्य रुय्यक द्वारा उद्घाटन होने के कारण ही विद्वत्समाज मे उसका समादर न हुआ तो अत्युक्ति न होगी। अलकार सर्वस्व के प्रारम्भ म भी उन्होने महिमभट्ट के विरोध को अविचारित कथन कहकर उपेक्षा कर दी है।

ध्वनि के लक्षण मे वाच्यार्थ की गौणता को प्रकट करने के लिए 'उपसर्जनीभूत' विशेषण का प्रयोग किया गया है। महिमभट्ट को इस विशेषण के प्रयोग पर आपत्ति है। उन्होन लिखा है, किसी भी लक्षण में विशेषण का प्रयोग उसी स्थिति में युक्ति-युक्त माना जाता है जब विशेषण का प्रयोग उसके उदाहरणो पर तो लागू होता है और उसके विरुद्ध उदाहरणो पर लागू नही होता है। परन्तु ध्वनि लक्षण म प्रयुक्त 'उपसर्जनीभूत' विशेषण म यह बात नही है। वह समासोक्ति अलकार और गुणीभूत व्यग्य के कतिपय भेदो म खरा नहा उतरता ह। इनमे वाच्यार्थ व्यग्यार्थ की प्रतीति म कारण होने पर भी गौण नहीं होता है। समासोक्ति में तो वाच्यार्थ की ही प्रधानता होती है। चारुता के आधार पर भी वाच्यार्थ की प्रतीयमान की अपेक्षा गौणता सगत नही है क्योकि गुणीभूत व्यग्य के कतिपय भेदो में *व्यग्यार्थ की अपेक्षा वाच्यार्थ* मे अधिक चारुता रहती है। इसलिए 'ध्वनि लक्षण का उपसर्जनीभूत विशेषण सगत नही है।[1]

रुय्यक ने उनके इस आक्षेप का उत्तर निम्न शब्दो मे दिया है, 'कोई भी अर्थ तीन कारणो से गौण माना जाता है—१ वह अर्थान्तर की प्रतीति का कारण होता है, २ वह प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा अचारु होता है। और ३ वह स्वय समाप्त होकर अर्थान्तर का उपकारक होता है।[2]

---

१ व्यक्ति विवेक, पृ० ६।

२ इडियन एस्थेटिक्स, पृ० ६३।

ध्वनिकार के लक्षण में वाच्यार्थ की गौणता उपर्युक्त कारणों में से प्रथम दो की दृष्टि से नहीं है। उन दोनों की दृष्टि से उनमें दोष मिल सकता है। परन्तु उसमें तीसरे कारण की दृष्टि से गौणता है। ध्वनिकार ने ध्वनिकाव्य उत्तमकाव्य काव्य विशेष का लक्षण किया है। जैसा कि उन्होंने कहा भी है 'काव्यविशेष स ध्वनि इति सूरिभि कथित'। इस लक्षण में 'अर्थ' का 'उपसर्जनीकृत' विशेषण गुणीभूत-व्यंग्य को भिन्न करने के लिए ही दिया गया है। गुणीभूत व्यंग्य में वाच्यार्थ जहाँ गौण भी होता है वह स्वयं समाप्त होकर प्रतीयमान अर्थ का उपकारक नहीं होता है। समासोक्ति में वाच्यार्थ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति का कारण होता है परन्तु प्रतीयमान अर्थ स्वतः पूर्ण न होकर लौटकर वाच्यार्थ के उपस्कार के लिए ही प्रवृत्त होता है। इस प्रकार ध्वनि के लक्षण में अर्थ का 'उपसर्जनीभूत' विशेषण पूर्ण युक्ति युक्त है।[1]

महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण में प्रयुक्त 'काव्यविशेष' पद के प्रयोग पर भी आक्षेप किये हैं। ध्वनिवादियों की ओर से इन आक्षेपों का उत्तर देते हुए आचार्य रुय्यक ने कहा है, प्रसिद्ध लक्ष्य का आश्रय लेकर ही लक्षण की रचना की जाती है। लक्ष्य की दृष्टि से दो प्रकार का काव्य दिखलाई पड़ता है—१ मुख्य और २ गौण। मुख्य वह है जहाँ व्यंग्य का प्राधान्य है, शेष में व्यंग्य का अप्राधान्य है। वह गुणीभूत व्यंग्य है। ये दोनों ही काव्य हैं क्योंकि अनादि काल से उन दोनों के लिए ही काव्य का व्यवहार होता चला आया है ध्वनिवादी मुख्य और गौण की बात न करके 'काव्य विशेष' कहते हैं जिससे गुणीभूत व्यंग्य का ध्वनिकाव्य के भीतर परिगणन न हो सके। गुणीभूत व्यंग्य काव्य की सत्ता को भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। कारण, ऐसी रचनाएँ उपलब्ध होती हैं जिनमें रस अस्फुट है अथवा अंगभूत है। ऐसी रचनाओं में काव्यत्व तो अनादिकाल के व्यवहार के कारण स्वीकार ही करना पड़ता है। जिस रचना में अंगीरस स्फुट एवं प्रधान होता है वहाँ ध्वनि काव्य का व्यवहार होता है अन्यत्र गुणीभूत व्यंग्य आदि का। यदि यह कहा जाय कि मन को विश्रान्ति प्रदान करने वाला रस अप्रधान नहीं हो सकता, तो ठीक नहीं है। क्योंकि कभी कभी अंगीरस के प्रति अन्य रस अंग रूप में चित्रित मिलता है। इसी अंगांगिभाव को ही ध्यान में रखकर भरत मुनि ने स्थायी और संचारी भावों का विभाजन किया है। जहाँ स्फुट अंगी रस है, वहाँ रस ध्वनि का व्यवहार होता है और जहाँ अस्फुट रस है वहाँ वस्तु ध्वनि अथवा अलंकार ध्वनि का। इस प्रकार ध्वनिवादी के मत में सभी आशंकाओं का समुचित समाधान उपलब्ध होता है।[2]

आचार्य रुय्यक ने महिमभट्ट के आक्षेपों की निस्सारता प्रकट करके ध्वनि सिद्धान्त का समर्थन किया है। व्याख्यान में स्पष्टीकरण के दो दर्जन से अधिक स्थल हैं। उनमें उन्होंने कहीं तो व्यक्ति विवेककार का आग्रह, कहीं वदतोव्याघात, कहीं मिथ्या आक्षेप आदि दोषों का उद्घाटन करके ध्वनि सिद्धान्त को अनुमान के चंगुल से छुड़ाने का सफल प्रयास किया है। ध्वनि की प्रतिष्ठा में रुय्यक का सहयोग सराहनीय है।

---

१ व्यक्ति विवेक-व्याख्यान पृ० १३।

२ अत्र व्यक्तिवादिन कृत।

—व्यक्ति विवेक व्याख्यान, पृ० १०३।

क्षेमेन्द्र का औचित्य सिद्धान्त और ध्वनि—

औचित्यविचार चर्चा ग्रन्थ के आधार पर क्षेमेन्द्र 'औचित्य प्रस्थान के प्रतिष्ठापक स्वीकार किये जाते हैं।[1] परन्तु इस प्रस्थान की उद्भावना के बीज भरत के नाट्यशास्त्र तक में प्राप्त होते हैं। उसके पश्चात् भामह, दंडी और वामन अपने अपने ग्रन्थों में यद्यपि औचित्य शब्द का उल्लेख नहीं करते, परन्तु उनके दोषों में अनौचित्य का बहुत कुछ अंशों में समावेश है। काव्यालंकार, काव्यमीमांसा और ध्वन्यालोक में औचित्य का उल्लेख है। ध्वन्यालोक में औचित्य को रस परिपाक का अनिवार्य अंग स्वीकार करते हुये निम्नलिखित कारिका उद्धृत है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभंगस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा॥[2]

क्षेमेन्द्र ने इसी 'परा उपनिषत्' की मान्यता का पल्लवन किया है। इसीलिये औचित्य रस की आत्मा माना गया है।[3] औचित्य प्रस्थान ध्वनि विरोधी मार्ग नहीं है। इसका एक कारण तो यह कि इस प्रस्थान का ध्वनि के साथ जैसा कि कु० पू० स्वामी शास्त्री ने प्रदर्शित किया है—उसको बिना किसी प्रकार की क्षति पहुँचाये ही भली भाँति समन्वय किया जा सकता है। दूसरे 'औचित्य' बहुमुखी मार्ग है और ध्वनि केवल अन्यमुखी। तीसरे वह 'औचित्य' ध्वनि का स्पष्ट विरोध नहीं करता और न कर सकता है। वह ध्वनि का समर्थन ही करता है।

मम्मट द्वारा ध्वनि-शास्त्र का निर्माण—

आचार्य मम्मट ने काव्य के क्षेत्र में विस्मयकारी समन्वय की चेष्टा की। स्वग्रन्थ काव्य प्रकाश में उन्होंने अपने समय तक के काव्य सिद्धान्तों की महत्वपूर्ण उपलब्धियों को ध्वनि के आलोक में व्यवस्थित और समन्वित रूप प्रदान किया है। उनके समग्र प्रेरणा-स्रोतों का उल्लेख करने का अवसर यहाँ नहीं है और न उनके द्वारा पुरस्कृत काव्यालोचन के मानदंड का विवेचन करने का ही इस समय तो ध्वनि के ऐतिहासिक विकास क्रम उनकी महत्वपूर्ण शृङ्खला पर ही विचार करना है।

आनन्दवर्धन ने सर्वप्रथम मौलिक रूप से चलते हुए ध्वनि सम्बन्धी विचार विमर्श को सुव्यवस्थित सिद्धान्त का रूप प्रदान किया। यह एक मानी हुई बात है कि जब कोई सिद्धान्त व्यवस्थित रूप से लिखित रूप में प्रस्तुत होता है तो आलोचकों की दृष्टि उस पर अवश्य पड़ती है। इनमें से कुछ उसका खण्डन करते हैं और कुछ मण्डन। ध्वन्यालोक ने ध्वनि को जब व्यवस्थित काव्यालोचन के सिद्धान्त रूप में प्रस्तुत किया तो उसके प्रबल समर्थक भी सामने आये। उनमें अभिनवगुप्त और मम्मट का नाम मुख्य है।

यह कई बार कहा जा चुका है कि ध्वनि में काव्य की आत्मा को खोजने का प्रयत्न और उसकी उपलब्धि की सूचना है। श्रोता अथवा पाठक की दृष्टि से वह 'सद्यः परनिर्वृत्ति' ही है। इसी को काव्य कसौटी मानकर ध्वन्यालोककार ने काव्य परीक्षा की, व्याख्या की। अभिनवगुप्त ने

---

१ डा० राघवन सम कनसैप्टस आफ अलंकारशास्त्र, पृ० २४५।
२ ध्वन्यालोक, ३–१५।
३ औचित्यविचार चर्चा, कारिका ३।

ध्वनि के आलोक का दर्शन कराने के लिये 'ध्वन्यालोक' पर लोचन टीका लिखी। 'लोचन' ने ध्वनि का समस्त वैभव स्पष्ट कर दिया, उन आनुषंगिक तथ्यों का भी दर्शन कराया जो ध्वनि के आलोक में स्पष्ट नहीं थे तथा कुछ नवीन तथ्य भी प्रस्तुत किए। 'ध्वन्यालोक' की अपेक्षा 'लोचन' ही मम्मट का अधिक आधार है। जैसा प्रारम्भ में कहा गया है कि मम्मट ने काव्य क्षेत्र में समन्वय प्रस्तुत किया है। उन्होंने ध्वनि के क्षेत्र में यही कार्य किया है। एक विद्वान का मत है कि मम्मट से बढ़कर ध्वनिवाद का प्रचारक कोई नहीं हुआ है और उनका ग्रन्थ काव्य प्रकाश ही ध्वनिवादी अलकारशास्त्र का सर्व प्रथम और साथ ही साथ सबसे श्रेष्ठ प्रामाणिक ग्रन्थ है।[1] अतः निर्विवाद माना जा सकता है कि ध्वनि के क्रमिक विकास में मम्मट अंतिम कड़ी हैं। विश्वनाथ और पण्डितराज भी आगे नहीं बढ़े हैं।

ध्वनि विकास में मम्मट ने जो कार्य किया है उसे सरलता के लिए तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं। पहिले आनन्द और अभिनव के द्वारा प्रतिष्ठित मूल सिद्धान्तों को अपनी संक्षिप्त एवं समन्वयवादी शब्दावली में प्रकट करने का प्रयत्न दूसरे आनन्द अथवा अभिनवगुप्त में संकेत रूप से प्रतिपादित सिद्धान्तों का बोधगम्य स्पष्टीकरण प्रदान करने की चेष्टा और तीसरे अपनी धारणाओं का भी इस समन्वय में स्थान देने का प्रयत्न। इसलिए ध्वनि विकास का अध्ययन करते समय मम्मट के प्रथम प्रयत्न का विवेचन करना अप्रासंगिक प्रतीत होता है। इस अनुल्लेख का यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि मम्मट के इस प्रयत्न को कम महत्व प्रदान किया जाता है। वस्तुतः मूल्य तो इसी प्रयत्न का अधिक है। परन्तु मम्मट की वास्तविक प्रतिभा के दर्शन तो अन्य दो ही प्रयत्नों में होते है। दूसरे आनन्द और अभिनवगुप्त के उल्लेख के अवसर पर मूल सिद्धान्तों का एक बार उल्लेख हो चुका है यहाँ उनका उल्लेख चर्वितचर्वण ही होगा।

आनन्दवर्धन के अनुसार काव्य का लक्षण यह है—

'सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्।'[2]

सामान्यतया यह काव्य लक्षण ठीक है, परन्तु विश्वनाथ की भांति यह भी 'काव्यविशेष का ही लक्षण है, काव्य-सामान्य का नहीं। यह पहले स्वीकार किया जा चुका है कि ध्वनि में काव्य की आत्मनिष्ठ व्याख्या का प्रयत्न है। इस दृष्टि से उपर्युक्त लक्षण में 'सहृदय' प्रमाता, श्रोता अथवा पाठक है। 'आह्लाद' रस का परिचायक है और 'शब्दार्थमयत्व' काव्य में प्रयुक्त शब्द और अर्थ के लिए प्रयुक्त है। यह परिभाषा इस प्रकार रखी जा सकती है। 'सहृदय के हृदय को आह्लाद प्रदान करने वाला ही शब्दार्थ काव्य है।' पाठक अथवा सामाजिक की दृष्टि से लक्षण को यदि पूर्ण भी मान लें तो भी काव्यालोचक की दृष्टि से इसे एकांगी ही स्वीकार करना पड़ेगा। इसमें वाद विवाद की यथेष्ट गुञ्जाइश है। अब तक काव्य क्षेत्र में प्रचलित काव्य लक्षणों का समन्वय करने की भी चेष्टा नहीं है। इस दृष्टि से मम्मट का काव्य लक्षण सर्वतोभद्र

---

१ डा० सत्यव्रतसिंह हिन्दी काव्य प्रकाश की भूमिका, पृ० ७०।

२ ध्वन्यालोक प्रथम उद्योत, पृ० ३।

3584

लक्षण है। उसकी विस्तृत परीक्षा न करके संक्षेप मे उसकी विशेषताओं का उल्लेख है। मम्मट का लक्षण यह है —

तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुन क्वापि ॥[1]

मम्मट के अनुसार दोषरहित, गुणसहित और यथासम्भव अलकृत शब्दार्थ ही काव्य है। मम्मट के अनुसार दोष, गुण और अलकारो का किसी न किसी प्रकार रस से ही सम्बन्ध है। दोष रस के विघातक हैं, गुण रस के नियत अगी धर्म हैं और अलकार परम्परया रस से उपकारक, फलत इन सभी विशेषणो से रस की व्यजना है। सबसे बडी बात यह है कि ध्वनि-दृष्टि से निरूपित काव्य लक्षण म भी यदि ध्वनि का समावेश न हो सका तो वह लक्षण ही क्या! काव्य-लक्षण मे आनन्द-वर्धन के लक्षण को व्यापक, ध्वनियुक्त, सर्वतोभद्र और प्रचलित लक्षणो से समन्वित प्रस्तुत करने का ही मम्मट का प्रयत्न है।

ध्वन्यर्थ के अनुसार आनन्द ने काव्य के दो भेद किये हैं। दो ही हो भी सकते हैं। एक काव्य का वह रूप जहा व्यग्य अर्थ चमत्कारयुक्त और प्रधान हो और दूसरा वह रूप जहाँ व्यग्य अपेक्षाकृत कम चमत्कारयुक्त और अप्रधान हो। परन्तु इसके अतिरिक्त ध्वन्यालोककार ने काव्य के चित्रभेद की ओर भी सकेत किया है। समन्वयवादी मम्मट ने उनका सूत्र ग्रहण कर काव्य के तीन भेद किये और काव्य के तीसरे भेद में भी व्यग्य सत्पशत्व का समावेश कर दिया। वस्तुत ध्वनि के अनुरूप दो प्रकार का काव्य स्वीकार कर लेने पर काफी मात्रा में ऐसा अर्थ चित्र अथवा शब्द चित्र प्रधान वाङमय रह जाता है जिसका समावेश उपर्युक्त दो भेदो में असम्भव था। और तृतीय भेद न मानने से विवाद-परम्परा का अन्त न हो पाता। विश्वनाथ आनन्द की दो भेद वाली उक्ति पर चले और उलझ गये। मम्मट के काव्य के तीन भेद मान लेने पर विवाद का अन्त हो गया और काव्य के तीन भेद सर्वमान्य हो गये।

ध्वनिकार ने व्यग्य के प्रधानभाव और गौणभाव के कारण काव्य के दो भेद किये और प्रथम को ध्वनि नाम दिया तथा दूसरे को गुणीभूत-व्यग्य। इसके बाद भी बचे वाङ्मय को 'ततोऽन्यत् चित्र नाम दिया है। 'काव्ये उभे' को विधेय स्वीकार करके विश्वनाथ ने चित्र को काव्य सीमा से बाहर धकेल दिया। साथ ही साहित्य दर्पण के दशम उल्लास मे चित्र काव्य के अलकारो का विवेचन करने की अवाछित चेष्टा की। विश्वनाथ भी ध्वन्यालोक के अनुवर्तक हैं। परन्तु मम्मट ने देखा कि ध्वनिकार ने 'ततोऽन्यत् चित्रम्' कह कर चित्र की उपेक्षा नही की जैसी कि उन्हें काव्य के दो भेद मानने के पश्चात करनी चाहिए थी। अपितु चित्र का भी सक्षिप्त विवेचन अभिनिवेश के साथ किया। दूसरे उन्होने स्वय भी प्राचीन अलकार प्रधान काव्य की परिपाटी पर एक साथ पर्दा डालने के प्रयत्न की असफलता देखकर चित्र का भी काव्य का तीसरा भेद मान लिया।

ध्वनिकार ने व्यग्यार्थ प्रधान काव्य को ध्वनि की सज्ञा प्रदान की है और व्यग्यार्थ गुणभाव-युक्त को गुणीभूत-व्यग्य काव्य की। अन्य का नाम चित्र दिया है। यहाँ भी मम्मट ने अपनी विशेषता का परिचय दिया है। उन्होंने काव्य के तीनो भेदो के नाम उत्तम, मध्यम और अवर कर दिये हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट कर दिया कि यह उत्तम काव्य ही परम्परागत ध्वनि काव्य

---

१ काव्यप्रकाश प्रथम उल्लास।

है और मध्यम ही गुणीभूतव्यग्य। अवर तो चित्रकाव्य है। ही यदि विचार किया जाय तो ध्वनिकार ने काव्य के तीन नाम देकर काव्य के त्रिविध विभाजन की ओर पक्षपात तो प्रदर्शित कर दिया था परन्तु उनके ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य मे जो सूत्र अथवा तारतम्य विद्यमान है, वही सूत्र चित्र म नही हैं। 'आनन्द और अभिनव' को ध्वनि और गुणीभूत काव्य के व्यग्यो में चारुत्वाचारुत्व अभीष्ट नही है। उनके अनुसार ध्वनि और गुणीभूत व्यग्य काव्यो का व्यग्याथ समान रूप से अति रमणीय है। ध्वनिकार ने स्वीकार किया है, ध्वनि निष्यन्द रूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीय सहृदय।[1] इसके विपरीत मम्मट ने उत्तम, मध्यम और अधम नाम देकर उत्तम और मध्यम के व्यग्यों को अति चारु और न्यून चारु मानकर उत्तम से गुणीभूत व्यग्य तक आने वाले ध्वनिकार के व्यग्य चारुत्व सूत्र म अवरकाव्य को भी सग्रथित कर दिया। इससे ध्वनिवादी समालोचना में उत्कष आ गया, काव्य भेदो में तारतम्य स्थापित हो गया और उसम व्यवहारिकता का समावेश हो गया जिसकी बडी आवश्यकता थी। उत्तम और गुणीभूत-व्यग्य के व्यग्य में समरमणीयता देखने म सत्यता तो थी परन्तु व्याव हारिकता नहीं थी। व्यग्य सौन्दर्य कहने स अचारु नही होता, इसे मम्मट जानते थे। यही मम्मट का सबसे बडा काय था।

मध्यम काव्य भेद

ध्वनिकार और अभिनवगुप्त म गुणीभूत व्यग्य के आठो भेदो के सकेत ढूंढे जा सकते हैं परन्तु उनका स्पष्ट लक्षण विवेचन नही हुआ है। मम्मट केवल ध्वनि सिद्धान्त का मात्र प्रति पादन नहीं कर रहे थे प्रत्युत ध्वनि शास्त्र का निर्माण कर रहे थे। उन्होने उन सकेतो का सूत्र ग्रहण कर गुणीभूत व्यग्य मध्यम काव्य के आठ भेद किये, आठो के ध्वन्यालोक और अभिनव से ही सूत्र ग्रहण कर नामकरण किये, आठो के लक्षण, उदाहरण और सगति प्रदर्शित करके मध्यम काव्य के प्रसग को अन्तिम रूप प्रदान किया। उन्होने रस को सवथा अलकाय स्वीकार कर आनन्दवधन और अभिनवगुप्त की रसवत् अलकार सम्बन्धी मान्यता का प्रत्याख्यान करके अपराग की स्थापना की।

मम्मट को ध्वनि-माग भ्रष्ट माने जाने का भय नही है। भय उन्हे यह है कि अव्याव हारिकता मे पडकर वक्रोक्ति-सिद्धात की भांति ध्वनि सिद्धान्त सकीण होकर अवरुद्ध न हो जाय।

ध्वनि-काव्य में रस और भाव अगीभाव अथवा प्रधान रूप स व्यवस्थित रहते हैं परन्तु काव्य म कभी कभी इसके विपरीत स्थिति भी आ जाती है। कभी कभी काव्य मे वाच्याथ अगी होकर प्रधानता प्राप्त कर लेता है और रस, भाव रसाभास, भावाभास आदि उसके अग हो जाते हैं, ऐसी स्थिति म अगभूत गौणभूत रस आदि को ध्वनिकार अलकार रसवदादि मानते हैं। यह उनका अपना पक्ष है। इसलिये इसम उनका अभिनिवेश है। यद्यपि अपनी इस स्थापना की कमजोरी भी उनको स्पष्ट है कि जो रस, भाव आदि सवदा अलकाय हैं उन्हें अलकार मानने में अव्यवस्था की सभावना है। फिर भी वह मानते हैं। अभिनवगुप्त ने भी इस मान्यता का समर्थन कर दिया। मम्मट अलकार को परम्परा स रस आत्मा का उपकारक स्वीकार करते हैं।

---

१ ध्वन्यालोक ३-३७।

यदि उन्हें रस से, 'परम्परा से' ही सही सम्बद्ध नही किया जाता है तो काव्य में उनकी व्ययता सिद्ध होती है और गुणीभूत रस आदि को अलकार स्वीकार कर लेने पर 'अलकार्य-अलकार' सम्बन्ध ठीक नही बैठता है। वक्रोक्तिकार इसी आधार पर रसवद् का खण्डन कर चुके थे। ऐसे धर्म सकट मे मम्मट ने ध्वनिकार और अभिनव का मार्ग छोडने मे ही भलाई देखी और रसवदादि को अलकार नहीं माना।[1] उन्होंने गौण रस भाव आदि गुणीभूत व्यग्य के अन्दर 'अपराग' की सार्थक सज्ञा देकर सम्मिलित कर दिया है। यद्यपि इनकी मान्यता का भी साथ ही साथ उल्लेख कर दिया है। यह परिवर्तन मम्मट की वैज्ञानिक दृष्टि का ही सूचक है। इस 'रसवद्' का विशेष उल्लेख *मध्यम-काव्य के विवेचन के प्रसग मे आगे किया जायगा।*

मम्मट नवीन मार्ग का अनुसरण करते हैं और बडे साहस के साथ, परन्तु केवल नवीनता के लिये नहीं। उनका नूतन मार्गालम्बन कभी व्यावहारिकता की रक्षा के लिये होता है तो कभी वैज्ञानिकता के सन्निवेश के लिये, परन्तु ध्वनि का राज मार्ग कभी भी दृष्टि से ओझल नही होता है।

ध्वनिकार ने ध्वनि का विवेचन किया। उन्हें ध्वनि के पाँच अर्थ अभीष्ट हैं। इन पाचों म एक का प्रयोग व्यजना वृत्ति के लिए भी होता है। ध्वनिकार ने प्रथम उद्योग मे ध्वनि को भक्ति से भिन्न सिद्ध किया है। वहाँ ध्वनि से उनका तात्पर्य '*व्यजना-वृत्ति*' से ही है, परन्तु *व्यजना वृत्ति* का उन्होंने शब्दत कहीं उल्लेख नहीं किया है। मम्मट को यह त्रुटि प्रतीत हुई। व्यजना के सुकुमार बुद्धि वाले अध्येताओं के लिए ऐसे स्थल शकास्पद हो जाते हैं। मम्मट ने स्वग्रन्थ काव्यप्रकाश मे व्यजना-वृत्ति के इस रूप को पूर्ण स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

व्यजना का वर्णन और विवेचन अभीष्ट होने पर भी अभिधा, लक्षणा, और तात्पर्या नामक शब्द-शक्तियों का विवेचन भी प्रासगिक हो जाता है। ध्वनिकार ने इस तथ्य की ओर भी दृष्टिपात नहीं किया था। इन शब्द शक्तियों का परिचय और विवेचन व्यञ्जना के स्वरूपबोध को सरलता के लिये है। *व्यजना तो चौथी शक्ति है उसका अन्तर्भाव प्रथम तीन शक्तियों मे असम्भव* सिद्ध करने के लिए भी इन शक्तियों का स्वरूप बोध आवश्यक है। ध्वनिकार से पूर्व अभिधा और लक्षणा का काव्यक्षेत्र मे पदार्पण हो चुका था। इन तथा कई अन्य कारणो से मम्मट ने अभिधा लक्षणा का सप्रसग विवेचन किया है और तात्पर्या की ओर सकेत भी। यह वृत्ति विवेचन भी मम्मट ने पाडित्य आदि प्रदर्शन के लिये नहीं किया है वस्तुत ध्वनि का मार्ग सरल और प्रशस्त करने के लिए ही किया है।

व्यजना के साथ-साथ अन्य तीन शक्तियों का विवेचन होने से व्यजना के स्वरूपबोध मे सरलता तो हुई लेकिन उनका व्यजना से सम्बन्ध स्थापित करने की भी आवश्यकता उपस्थित हो गई। मम्मट ने उस आवश्यकता का भी अनुभव किया और व्यजना वृत्ति के शाब्दी रूप के अभिधामूला व्यंजना और लक्षणामूला व्यजना भेद किये। इस भेद-विभाजन से अभिधा और लक्षणा का व्यजना से सम्बन्ध स्थापित हो गया तथा सभी शक्तियों का क्षेत्र—विभाजन भी हो गया। इसी प्रसग मे अभिधा के वाच्यार्थ नियामकों का भर्तृहरि के आधार पर उल्लेख

---

१ ध्वन्यालोक २-२७।

किया और आर्थी व्यंजना के वक्ता, बोद्धव्य आदि अर्थ अभिव्यक्ति हेतुओं का भी उल्लेख किया है। व्यंजना की प्रतिष्ठा के लिए यह अत्यन्त आवश्यक काम था।

इतना ही नहीं पंचम उल्लास के अन्त में पहुँच कर सभी विरोधी सिद्धान्तों का एकत्र निराकरण किया है। ध्वनिकार ने भी अभिधावादी, लक्षणावादी आदि विरोधी सिद्धान्तों का यत्र तत्र निराकरण किया है, परन्तु उसको एकत्र करके अकाट्य तर्कों से व्यंजना की प्रतिष्ठा को अपनी व्यक्तिगत प्रतिष्ठा मानकर उत्तर देने का प्रयत्न मम्मट का अपना प्रयत्न है। सर्व प्रथम 'रसादि लक्षण अर्थ तो स्वप्न में भी वाच्य नहीं होता' कहकर व्यंजना को अभिधा तथा लक्षणा से व्यतिरिक्त सिद्ध किया है। यहीं पर मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद और अन्विताभिधानवाद में व्यंजना की सिद्धि की, और वाच्यार्थ तथा व्यंग्यार्थ में अनेक रूप भेद दिखाकर व्यंग्य बोध के लिये व्यंजना की प्रतिष्ठा की है। इसका विस्तृत उल्लेख इसी प्रबन्ध के द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

'ध्वन्यालोक' तथा 'लोचन' के रचयिताओं ने 'ध्वनि सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया था, उन्होंने काव्य में भेदोपभेदों के लक्षण और उदाहरण प्रस्तुत नहीं किये थे। परन्तु मम्मट 'ध्वनि शास्त्र' की रचना कर रहे थे, उन्होंने काव्य के भेदोपभेदों के नामकरण, लक्षण, उदाहरण आदि प्रस्तुत किये और गद्यवृत्ति के द्वारा लक्षणों की उदाहरणों में संगति भी प्रदर्शित की। ध्वनि के विकास क्रम में मम्मट का योगदान विशेष महत्वपूर्ण है।

काव्य की भेदोपभेद-व्यवस्था में मम्मट ने दो प्रसंग ऐसे भी जोड़े जिनका समुचित औचित्य दिखाई नहीं पड़ता है। उनमें से एक है शब्दशक्त्युत्थवस्तु व्यंग्य का प्रसंग और दूसरा है अर्थशक्त्युत्थध्वनि के कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्र सिद्ध भेद की कल्पना। ध्वन्यालोककार ने शब्दशक्ति से अलंकार ही व्यंग्य माना है।

शब्दशक्ति से वस्तु ध्वनि ध्वनिकार एवं लोचनकार को मान्य नहीं है। इसका विशेष उल्लेख द्वितीय अध्याय में होगा। मम्मट ने शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि भी स्वीकार की है कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्ति की मान्यता का पण्डितराज ने खण्डन कर दिया है। कविनिबद्धवक्ता कवि से अलग कैसे माना जा सकता है।

ध्वनि प्रतिष्ठा में विश्वनाथ का योग—

ध्वनि के विकास क्रम में विश्वनाथ का योगदान अधिक महत्वपूर्ण नहीं है। साहित्य दर्पण के प्रथम परिच्छेद में काव्यप्रकाशकार और ध्वनिकार के खण्डन में प्रदर्शित उत्साह को देखकर अध्येता को दर्पण-दर्शन से नवीनता-दर्शन की जो आशा बंधती है वह धीरे धीरे क्षीण होकर निराशा में परिणत हो जाती है। काव्य का लक्षण निश्चित करने के पश्चात् 'अष्टादश भाषा वारविलासिनी भुजंग' और 'ध्वनि प्रस्थापनपरमाचार्य विश्वनाथ आचार्य मम्मट के शब्दों को ही दुहराते दिखाई पड़ते हैं। विश्वनाथ भी ध्वनिवादी आचार्य हैं। साहित्यदर्पण का भी ध्वनि प्रतिष्ठा में थोड़ा बहुत योग स्वीकार करना पड़ेगा, परन्तु उसमें ध्वनि को लेकर कोई विशेष स्थापना उपलब्ध नहीं होती है। साहित्य दर्पण काव्यप्रकाश की अपेक्षा सरल शैली में लिखा ग्रन्थ है। इसलिए 'दर्पण' प्रकाश दृष्टि के लिए आधार अथवा सीढ़ी अवश्य बन सका।

विश्वनाथ ने ध्वनि की प्रतिष्ठा में दो एक काय विशेष उल्लेखनीय किये हैं। यद्यपि वे दोनो नवीन नही माने जा सकते हैं, फिर भी अपनी सरल शैली मे ध्वनि बोध के लिए अग्रसर होने वाले सुकुमारमति अध्येताओ के लिए उनका उपयोग कम नही है।

व्यजना वृत्ति ही व्यग्य का बोध कराने वाली वृत्ति है। अब तक उसकी प्रतिष्ठा भली-भांति हो चुकी थी, काव्यक्षेत्र मे व्यजना का सार्वभौमत्व स्वीकृत हो चुका था, परन्तु उसका लक्षण अभी तक नहीं हो पाया था। सबसे पहले विश्वनाथ ने ही व्यजना वृत्ति का युक्तिसगत लक्षण प्रस्तुत किया है।

अपना अपना अर्थबोधन कराके अभिधा आदिक वृत्तिया के शान्त होने पर जिससे अन्य अर्थ का बोध होता है, वह शब्द म तथा अर्थादिक मे रहने वाली वृत्ति व्यजना मानी जाती है।[1] रीतिकाल म इस लक्षण का सबसे अच्छा अनुकरण हरिचरणदास के सभाप्रकाश में उपलब्ध होता है।

आचार्य मम्मट तक व्यजना तृतीया वृत्ति मानी जाती थी। मम्मट ने 'तात्पर्या' वाक्य शक्ति को स्वीकार तो किया था, परन्तु 'अर्थभेद' बताते समय 'तात्पर्यार्थोऽपि केषुचित्'—कुछ लोग तात्पर्यार्थ को चौथे प्रकार का अर्थ स्वीकार करते हैं—कहकर मौन हो गये थे। विश्वनाथ ने इस शका को दूर कर दिया और 'तात्पर्या' शक्ति को तीसरी शक्ति मानकर व्यजना को चौथी शक्ति घोषित कर दिया। विश्वनाथ ने इसका सकेत 'लोचन' से ग्रहण किया था। इस स्थापना से व्यजना तुरीया शक्ति होकर तुरीया अवस्था की भांति 'आत्मसाक्षात्कार' का दार्शनिक महत्व प्राप्त कर सकी।

आचार्य मम्मट ने व्यजना को अनेक प्रकार से अभिधादि शक्तियो से भिन्न सिद्ध किया था। विश्वनाथ ने इस प्रसग को सुकुमार बुद्धिग्राह्य बनाने का प्रशसनीय प्रयत्न किया है, और व्यग्य का अभिधेय से भेद स्पष्ट करने के लिये कहा है—

बोद्धा, स्वरूप, सख्या, निमित्त, काय, प्रतीति, काल, आश्रय और विषय आदि की भिन्नता के कारण व्यग्य वाच्यार्थ से भिन्न है।[2] इनका सकेत काव्य प्रकाश मे अवश्य है परन्तु उन्होने इनकी गणना करके भेद को स्पष्ट कर दिया है। इनका सविस्तार विवेचन द्वितीय अध्याय में किया जायगा।

ध्वनि सिद्धान्त का विकास और पण्डितराज

रस-गगाधरकार के समय तक पहुँचते पहुँचते अलकार शास्त्र पूर्ण परिनिष्ठित हो चुका था। काव्य के सभी सिद्धान्त वादि प्रतिवादियो के सघर्षों के पश्चात प्रतिष्ठा पा चुके थे। फलत पण्डितराज ने अपनी नव्यन्याय की शैली में उनका बहुत सुन्दर एव सफल परिष्कार किया है। विषय का प्रतिपादन अत्यन्त नपा-तुला एव प्रौढ है। ग्रन्थकार की शैली म कही भी सक्षिप्तता

---

१ विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते पर ।
सा वृत्ति व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। सा० द०, २, १२।

२ बोद्धृस्वरूपसख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम् ।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नो अभिधेयतो व्यग्य ॥ सा० द०, ५, २।

राज ने बड़े लम्बे विवाद के पश्चात स्वीकार किया है। उन्होंने संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के शब्दशक्तिमूल प्रसंग में द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में काफी विचार किया है। इस सबका विस्तृत परिचय द्वितीय अध्याय में दिया जायगा।

मम्मट आदि आलंकारिकों ने अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमध्वनि के बारह भेद माने हैं। उन्होंने कविनिबद्धवक्त्र प्रौढोक्ति निष्पन्न अर्थ को व्यञ्जक मानकर वस्तु और अलंकार के आधार पर चार भेद और बढ़ा दिये हैं। परन्तु पंडितराज की दृष्टि मे कविकल्पित और कविनिबद्धवक्त्र कल्पित अर्थों में कोई भेद नही है। दोनो ही अर्थ कविकल्पना प्रसूत ही हैं। इस प्रकार के भेद बढाने से संख्या अनन्त हो सकती है।[1]

पंडितराज का यह तक समीचीन है। ये चार भेद ध्वन्यालोक के 'तत्र वक्ता कवि कवि निबद्धों वा कश्चित' के आधार पर अभिनवगुप्त ने माने हैं। उन्ही का अनुकरण मम्मट एवं विश्वनाथ ने किया था। परन्तु ध्वन्यालोक का यह उद्धरण कारिका का अंश नही है दूसरे व्यंजक अर्थ के भेदो का उल्लेख करने के अवसर का भी नहीं है। संघटना की रस व्यंजकता सिद्ध करने के प्रसंग मे उल्लेख है।

पंडितराज को शब्दार्थमूल ध्वनि भी मान्य है। यह उभयुत्थध्वनि वाक्यमात्र मे ही सम्भव है। लक्षणामूला ध्वनि के दोना भेद तथा अभिधामूलाध्वनि के संलक्ष्यक्रम के दश भेद पद और वाक्य दोना मे होते हैं।[2] इस प्रकार पंडितराज के अनुसार ध्वनि के उन्तीस भेद होते हैं।

पंडितराज रस गंगाधर को पूरा नही कर पाये। फलतः उसमे व्यंजनावृत्ति का विवरण एवं उत्तमकाव्य के भेद उपलब्ध नही हैं।

यहा तक ध्वनि सिद्धान्त के रीतिकाल से पूर्व विकासक्रम का उल्लेख हुआ। रसगंगाधर कार और रीतिकाल के प्रथम ध्वनिवादी आचार्य चिन्तामणि समकालीन थे और दोनो शाहजहा के आश्रित थे। रीतिकाल से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाले सभी ग्रन्थ संस्कृत में लिखे गये थे। चिन्तामणि से ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन हिन्दी में भी प्रारम्भ हुआ। परन्तु हिन्दी के जिन आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त का विवेचन किया है उन्होंने मुख्यतया काव्यप्रकाश का ही अनुकरण किया है। कहीं-कही साहित्यदर्पण का भी आश्रय लिया गया है, परन्तु रस गंगाधर का उसकी न्यायशैली की तार्किक जटिलता के कारण अनुकरण न हो सका। काव्यप्रकाश समन्वयवादी ग्रन्थ है। वस्तुतः इसी ग्रन्थ के कारण ध्वनि सिद्धान्त को स्थिरता मिली।



१ हिन्दी रसगंगाधर पृ० २ 'प्रतिभा—भेदान्तर प्रयोजकतापत्तेः'।

२ तदेवमेते प्रागुक्ता द्व्युत्थातिरिक्ता सर्वेऽपि ध्वनय
एकस्मिन वाच्ये यद्येकपमात्रगतास्तदा पदध्वनितया व्यपदिश्यन्त
नाना पदगतायां तु वाक्यध्वनितयेति।

—रसगंगाधर, पृ० १७५।

द्वितीय अध्याय

ध्वनि-सिद्धान्त-निरूपण

२

अध्याय का प्रतिपाद्य

ध्वनि-शब्द वयाकरणो के स्फोट से ग्रहण किया गया है। उसका थोडा सा परिचय प्रथम अध्याय के प्रारम्भ मे दिया जा चुका है। उसी आधार पर ध्वनि के पाँच अथ किये जाते हैं जिनका उल्लेख आनन्द वधन के प्रसग म प्रथम अध्याय में हो चुका है, यहाँ उनकी सक्षिप्त पुनरावृत्ति की जाती है। वे ये हैं —

(१) जो ध्वनि करे अथवा कराये वह व्यजक शब्द ध्वनि कहलाता है।

(२) शब्द की भाँति उसका अथ भी व्यजक होता है इसलिये व्यजक अथ को ध्वनि की सज्ञा प्रदान की जाती है। ये दोनों कर्तृ प्रधान व्युत्पत्तियाँ हैं।

(३) जो ध्वनित किया जाय वह भी ध्वनि है। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति से त्रिविध—(रस, अलकार वस्तु) व्यग्याथ को भी ध्वनि माना जाता है। यह कम प्रधान व्युत्पत्ति है।

(४) शब्द की जिस शक्ति के द्वारा व्यग्याथ ध्वनित होता है उस शब्द-शक्ति को भी ध्वनि कहते हैं। ध्वनि की इस व्युत्पत्ति के आधार पर शब्द की चौथी व्यजना शक्ति भी ध्वनि कहलाती है। यह करण प्रधान व्युत्पत्ति है।

(५) वह काव्य भी ध्वनि कहलाता है जिसमे व्यग्याथ प्रधान और चमत्कार युक्त होता है। ध्वनि शब्द की यह अधिकरण प्रधान व्युत्पत्ति है।

इस प्रकार व्यजक शब्द और अथ, व्यग्याथ, व्यग अथ को प्रकट करने वाली व्यजना शक्ति एव चमत्कारयुक्त और प्रधान व्यग्याथ युक्त काव्य को ध्वनि नाम से पुकारा जाता है। ध्वनि शब्द को ये पाँचो व्याकरणिक अथ देखने के लिये एक दूसरे से भिन्न और अलग अवश्य हैं, परन्तु व्यावहारिक रूप मे एक दूसरे से इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि एक का उल्लेख करते समय दूसरे का आपसे आप ही ग्रहण हो जाता है। इसलिय ध्वनिवादी आचार्यों ने ध्वनि सिद्धान्त के निरूपण में प्रधानतया ध्वनि की तीन व्युत्पत्तियों को ग्रहण किया है, व्यग्याथ का बोध कराने वाली व्यजना शक्ति, व्यग्यार्थ और ध्वनि काव्य।

इस अध्याय मे ध्वनि सिद्धान्त के अन्तगत व्यजना-शक्ति, व्यग्य अथ और व्यग्य-अर्थ सन्निविष्ट काव्य का ही अध्ययन किया जायगा। व्यग्य अथ में मुख्यतया रस का परिगणन

है अन्या के सुख मे भी विघ्न बन रही है। नायिका की चाटुकारिता ही व्यग्य है। यह चाटुकारिता विधि निषेध से उदासीन है,

(५) कभी व्यग्यार्थ और वाच्यार्थ का विषय भी भिन्न होता है—

पेखि प्रियाधर व्रन सहित का कों होहि न रोष।
भ्रमर सहित सू घत पदुम बरजी सहु निज दोष ॥[१]

इस दोहे का वाच्यार्थ तो एक ही है, परन्तु इसका व्यग्यार्थ नायिका, पति, उपपति, सहृदय आदि विषयो के लिये भिन्न है। अर्थात् वाच्यार्थ एक ही है परन्तु व्यग्यार्थ अनेक है। यथा—

१ वाच्यार्थ—,अपनी प्रिया क होठ को व्रण सहित देखकर किस पति को क्रोध न होगा। मैंने तुमको सुभ्रमर कमल सू घने से रोका था। अब अपनी अविनय का फल भोग।

२ पति विषयक व्यग्यार्थ—इस बेचारी का दोष नही है फलत इसके अधर के व्रण को देखकर इस पर क्रोध न करें।

३ सपत्नी विषयक व्यग्यार्थ—नायिका को पति द्वारा उपालम्भ दिये जाने पर सपत्नियाँ खुश हुई। इसलिये प्रिया शब्द के प्रयाग से उसका सौभाग्य सूचित किया जा रहा है। पति इससे अति अनुरक्त है अत क्रोध कर रहा है।

४ प्रतिवेशिक विषयक व्यग्यार्थ—पत्नी को गाढ उपालम्भ दिये जाने पर पडौसियो को उसके चरित्र के विषय मे शका हुई। इस प्रकार उसको अविनय को छिपाकर पडौसियो को उसकी निष्कलकता बताना व्यग्य है।

५ नायिका विषयक व्यग्यार्थ—सपत्नियो के मध्य म इस नायक ने मेरा अपमान किया है यह जानकर तुम दुखी मत हो। यह तुम्हारा अपमान नही प्रत्युत सम्मान है। तुम इसे सहन करो।

६ उपपति विषयक व्यग्यार्थ—आज तो आपकी प्रच्छन्नानुरागिणी की मैंने इस प्रकार रक्षा कर ली है। आगे इस प्रकार स्पष्ट दन्तक्षत न करना।

७ सहृदय विषयक व्यग्यार्थ—देखिये! किस प्रकार मैंने बात छिपा डाली। मैं कितनी चतुर हूँ।[२]

इस प्रकार यह स्पष्ट हुआ कि जिस गाथा का वाच्यार्थ एक है उसके छ व्यग्यार्थ हैं। ऐसे और भी उदाहरण देकर यह सिद्ध किया जा सकता है कि वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ नितान्त भिन्न है।

अभिधावादी मीमांसकों के सम्प्रदाय—

ध्वनिकार और लोचनकार ने अभिधावादियों की उक्तियों का खडन सक्षेप में ही किया है। काव्य प्रकाश और साहित्य-दर्पण म इनका विस्तृत खडन प्राप्त होता है। मीमासको मे शब्द

---

१ वही, पृ० २६
२ लोचन, पृ० २७

और अर्थ के सम्बन्ध को प्रकट करने वाली शक्ति के सम्बन्ध में दो विभिन्न सम्प्रदाय हैं। एक सम्प्रदाय शब्दों को वाक्य से स्वतन्त्र अर्थ प्रत्यायक स्वीकार करता है। ये पूर्व मीमांसा के मानने वाले कुमारिल भट्ट के अनुयायी हैं। इनका अर्थ प्रत्यायक सिद्धान्त अभिहितान्वयवाद कहलाता है। इन्हीं के मत में तात्पर्य शक्ति को अवकाश प्राप्त होता है। दूसरा सम्प्रदाय शब्द को वाक्य से स्वतन्त्र नहीं मानता है, वह मानता है कि अर्थ प्रत्यायक शक्ति अन्वित वाक्य में ही होती है। यह प्रभाकर भट्ट के अनुयायी मीमांसकों का अभिमत है। इसे अन्विताभिधानवाद कहते हैं। निमित्तवादी और दीर्घतराभिधा-व्यापारवादी भी इसी के अन्तर्गत गृहीत होते हैं।[1] इस प्रकार मीमांसकों के निम्नलिखित पांच सम्प्रदाय हुए—

(१) अभिहितान्वयवादी—कुमारिल भट्ट।
(२) तात्पर्यवादी—धनंजय धनिक।
(३) अन्विताभिधानवादी—प्रभाकर भट्ट।
(४) शरवत् दीर्घतराभिधा-व्यापारवादी सम्भवतया भट्टलोल्लट।
(५) निमित्तिवादी।

अभिहितान्वयवाद का स्वरूप—

अभिहितान्वयवाद सिद्धान्त के प्रवर्तक प्रसिद्ध मीमांसक कुमारिल भट्ट हैं। कुछ नैयायिक भी इस मत को मानते हैं।[2] यह सिद्धान्त वैयाकरण वाजप्यायन के संसर्गवाद पर आधृत है जिसके अनुसार विभिन्न शब्दों का वाच्यार्थ ही मिलकर वाक्यार्थ होता है। इसके अनुसार वन वृक्ष से भिन्न नहीं है।[3] वह वृक्षों का समूह ही है। वृक्षों को जब दूर से देखा जाता है तो उनमें सामूहिकता का भ्रम उत्पन्न होता है। वस्तुतः वे वृक्ष ही हैं और वहां वृक्षों के अतिरिक्त वन नाम की कोई वस्तु नहीं है। वृक्षों के समूह को सरलता के लिये उसी प्रकार वन नाम दे दिया जाता है जिस प्रकार सैनिकों के समूह को सेना कह लेते हैं।[4] एक कपड़े का टुकड़ा उन धागों से जिनसे वह बना है भिन्न नहीं है। एक धागे और कपड़े के टुकड़े में केवल यही अन्तर है कि कपड़ा अधिक स्थान घेरता है। इसलिये यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि अंशी में अंश की विशेषताओं के अतिरिक्त कोई विशेषता नहीं होती है।[5] उसी प्रकार वाक्य भी शब्दों का समूह है, शब्द उस वाक्य के जिसको वे गठित करते हैं अंग हैं। प्रत्येक शब्द का अपना अपना अलग अर्थ होता है। कोई भी शब्द अपने अर्थ के लिये दूसरे शब्द की अपेक्षा नहीं रखता। अर्थवान् शब्दों का जब आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि के आधार पर प्रयोग होता है तब वे एक दूसरे से अन्वित होते हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक शब्द का एक स्वतन्त्र अर्थ है, परन्तु वह शब्दार्थ अपूर्ण है, यह वाक्य में ही अन्वित होकर पूर्णता को प्राप्त होता है। पूर्ण अर्थ का बोध वाक्य के बिना सम्भव नहीं है। अपूर्ण अर्थवान् शब्दों का पूर्ण अर्थवान् समुदाय ही वाक्य है। वाक्य को संघटित

---

१ लोचन, पृ० २२
२ इंडियन थियोरीज आफ मीनिंग, । पृ० २०३।
३ श्लोक वार्तिक १८, ७५ ७६ द प्रावलम आफ मीनिंग में पृ० ७२५ पर उधृत।
४ वही, ७२।
५ द प्राबलम आफ मीनिंग इन इंडियन फिलोसफी, पृ० ६३।

करने वाले शब्द मुख्य है, वाक्य गौण है। किसी भी भाषा के अध्ययन क्रम मे पहले शब्दों का अध्ययन होता है। जो वाक्य म प्रयुक्त शब्दों के अर्थ नही जानते है वे वाक्य का अर्थ भी नहीं समझ सकते हैं। एसा कोई वाक्य उदाहरण म नही दिया जा सकता जिसका अर्थ शब्दों का अर्थ बिना जाने समझ मे आ जाय। कहने का अभिप्राय यह है कि शब्दो के अतिरिक्त वाक्य का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही होता है।[1] यही अभिहितान्वयवाद की विचार भित्ति है। इस सिद्धान्त में शब्द की स्वतन्त्र सत्ता मानी जाती है।

तात्पर्य-शक्ति का स्वरूप—

पद तीन हेतुओ के कारण अन्वित होकर वाक्य की रचना करते हैं। व हेतु हैं, आकाक्षा, योग्यता और सन्निधि। निराकाक्ष शब्द हाथी, घोडा, आदमी आदि वाक्य नही बना सकते हैं। इनमें आकाक्षा का अभाव है। द्वितीय हेतु योग्यता है। आग से सीचता है, वाक्य नहीं है क्योकि आग मे सीचने की योग्यता का अभाव है। आकाक्षा और योग्यता के होने पर सन्निधि समीपता के अभाव मे भी वाक्य पूरा नही होता है। यदि एक शब्द का उच्चारण करने क पश्चात् घण्टे भर बाद दूसरे शब्द का उच्चारण किया जाय तो व दोनों वाक्य न बन सकेंगे। इस प्रकार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि क आधार पर बने वाक्य म दो प्रकार का अर्थ होता है, एक पदार्थ और दूसरा वाक्यार्थ। इसम पदार्थ मे सकेतित अर्थ सन्निविष्ट रहता है। अभिहितान्वय-वादियो के अनुसार अभिधा इसी अर्थ को प्रकट करती है। वाक्यार्थ को प्रकट करने की शक्ति इस अभिधा मे नही होती है। वाक्यार्थ को तात्पर्य शक्ति प्रकट करती है। आचार्य शुक्ल ने तात्पर्य शक्ति को वाक्य की अभिधा स्वीकार किया है

अभिहितान्वयवाद और व्यजना—

यदि वाक्य म प्रयुक्त शब्दो को स्वतन्त्र अर्थवान् इकाई स्वीकार नहा किया जाता है तो उनका सज्ञा, सर्वनाम, क्रिया आदि म विभाग करना व्यर्थ और अनुपपन्न हो जायगा। यदि पदार्थ से वाक्यार्थ स्वतन्त्र स्वीकार किया जायगा तो कोई भी वाक्य कोई भी अर्थ दे सकेगा, जो व्यवहार म देखने म नही आता है। अतएव वाक्यार्थ किंचित भिन्न होते हुये भी पदार्थों का समुदाय ही है।[2] सक्षेप मे यही अभिहितान्वयवाद का सार है। इसम अभिधा का सम्बन्ध शब्द के सकेतित अर्थ-बोध तक ही सीमित है। इसके अनुसार अभिधा भी शब्दार्थ का बोध कराके ही विरत हो जाती है उसमें वाक्यार्थ बोध की क्षमता नही है। व्यजना शक्ति का उदय तो वाक्यार्थ *के पश्चात होता है। अत शब्द के सांकेतिक अर्थ का प्रत्यायन कराके विरत हो जाने* वाली अभिधा और वाक्यार्थ के पश्चात् उदय होने वाली व्यजना समकक्ष नही मानी जा सकती हैं। अत यह सिद्ध हो गया कि अभिहितान्वयवाद में व्यजना अभिधा से नितान्त भिन्न शक्ति है।

तात्पर्यशक्ति और व्यजना—यह सकेत दिया जा चुका है कि अभिहितान्वयवाद मे वाक्यार्थ का बोध कराने से पूर्व ही अभिधा विरत हो जाती है। वाक्यार्थ का बोध एक दूसरी शक्ति से

१ वही, पृ० ७४।
२ इडियन थियोरीज आफ मीनिंग, पृ० २११।

होता है जिसको तात्पर्या कहते हैं। पीछे जो कपडे और धागे का उदाहरण दिया गया है उसमें धागे और कपडे में कोई विशेष भिन्नता नही है, परन्तु कपडा धागे की अपेक्षा अधिक जगह घेरता है। यह अधिक स्थान ही वाक्यार्थ के अधिक अर्थ की ओर सकेत करता है। शब्द का अर्थ अपूर्ण होता है और वाक्य का अर्थ पूर्ण। वाक्यार्थ मे शब्द की अपेक्षा यही अधिक विशेषता है। यह अधिक अर्थ शब्दो के एक दूसरे से अन्वित होने के पश्चात ही निकलता है। इसी को वाक्यार्थ, ससर्गार्थ, अथवा तात्पर्यार्थ कहते हैं। वक्ता की विवक्षा यही है। यह कहना कठिन है कि वाक्यार्थ किस स्थान से निकलता है। वाक्यार्थ का बोध कराने वाली शक्ति को कुछ लोग वाक्य-शक्ति, कुछ वाक्य की अभिधा, कतिपय ससर्ग मर्यादा, अन्य तात्पर्या शक्ति कहते हैं।[1] जब विभिन्न शब्द अपने अपने अर्थों का प्रत्यायन कराके शान्त हो जाते हैं तब उनके अन्वित अर्थों से वाक्यार्थ का उदय होता है। इस ससर्गार्थ की प्रतीति किस प्रकार होती है इसकी अभी तक कोई विवेचना नही हो सकी है और अभी रहस्य ही बनी है। यह स्पष्ट हो गया कि तात्पर्या शक्ति वाक्यार्थ का ही बोध कराती है। वह वाक्य शक्ति है। इसलिये यह तात्पर्या शक्ति उस व्यजना के समकक्ष किस प्रकार मानी जा सकती है जिसका उदय इसके विरत हो जाने के पश्चात् होता है। साथ ही व्यजना का सम्बन्ध शब्द से भी होता है तात्पर्या का सम्बन्ध वाक्य से ही होता है।

अलकार-शास्त्र मे सबसे पहले लोचनकार ने तात्पर्या शक्ति का उल्लेख किया है।[2] उन्होने यहाँ शब्द की चार शक्तियाँ गिनाई हैं—(१) अभिधा, (२) तात्पर्या, (३) लक्षणा और (४) व्यजना। ध्वनिकार ने तीन ही शक्तियो को मान्यता दी है।

भोज ने व्यजना का तात्पर्या शक्ति म अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया। इसी पक्ष का समर्थन जयन्त भट्ट ने अपनी न्याय मञ्जरी म किया है।[3] भोज के पश्चात धनजय और धनिक ने तात्पर्या म व्यजना का अन्तर्भाव करने का असफल प्रयत्न किया है। ध्वनिकार ने वाच्यार्थ वाक्यार्थ और व्यग्यार्थ में प्रदीप घट-न्याय स्वीकार किया है। अर्थात् जिस प्रकार दीपक और घट दोनो की स्वतन्त्र सत्तायें होती हैं उसी प्रकार वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ की स्वतन्त्र सत्तायें होती हैं। जिस प्रकार दीपक घट की सत्ता का बोधक है उसी प्रकार वाच्यार्थ व्यग्यार्थ का। अतएव दोनों एक नहीं हो सकते हैं।[4] अभिनव गुप्त की स्वीकृति के पश्चात परवर्ती ध्वनिवादी आलकारिकों ने तात्पर्य शक्ति को स्वीकार किया है। ध्वनिवादी यदि अभिहितान्वयवाद को स्वीकार न करेंगे तो वे पद, पदार्थ की व्यजकता कैसे स्वीकार कर सकेंगे? फलत ध्वनिवादी अभिहितान्वयवादी ही हैं। परन्तु यह भी सत्य है कि तात्पर्याशक्ति और व्यजना समकक्ष नही मानी जा सकती हैं।

प्रभाकर भट्ट के अनुयायी मीमासक अन्विताभिधानवादी कहलाते हैं। यह गुरमत भी माना जाता है ये विद्वान् शब्दो को ही भाषा के वास्तविक घटक स्वीकार करते हैं। प्रत्येक शब्द

---

१ इडियन थियोरीज आफ मीनिंग, पृ० २०९।

२ 'एकस्य ततो विशेषरूपे वाक्यार्थे तात्पर्यशक्ति परस्परान्विते। लोचन, पृ० १९।

३ डा० वी० राघवन का शृगार-प्रकाश, पृ० १६ इण्डियन थियोरीज आफ मीनिंग मे उद्धृत।

४ ध्व० लो०, पृ० २३६।

का एक निश्चित अर्थ भी है परन्तु शब्द का वास्तविक अर्थ वाक्य में ही है। ये तात्पर्या शक्ति को स्वीकार नहीं करते हैं। शब्दबोध अन्वित रूप में ही होता है। प्रभाकर के मत को काव्य प्रकाशकार ने विस्तृत रूप से दिया है, अतएव यहाँ उन्हीं के शब्दों का रूपान्तर प्रस्तुत करना ही हमें उचित प्रतीत होता है। 'शब्दों में सकेत-ग्रह अन्वित रूप में वाक्य से ही होता है। उस सकेतग्रहण की निम्नलिखित प्रक्रिया है —

'जब कोई वृद्ध किसी युवक को आदेश देता है, 'गाय लाओ' और युवक उसकी आज्ञा से सास्नायुक्त प्राणी को ले जाता है। जब बालक इस वाक्य को कई बार सुनता है और गाय लाने की क्रिया को देखता है तो आदेश वाक्य, 'गाय लाओ' और गाय लाने की क्रिया का सम्बन्ध समझ लेता है। इस प्रकार बालक को प्रथमतः सकेतग्रह अर्थापत्ति की सहायता से अखड वाक्य में ही होता है। इसके बाद वही बालक 'गाय लाओ' 'अश्व लाओ' 'गाय ले जाओ' और 'अश्व ले जाओ' आदि आदेश वाक्य बार बार सुनता है और आदेश के पश्चात् होने वाली क्रियाओं को देखता है और भिन्न भिन्न वाक्यों के भिन्न भिन्न शब्दों के भिन्न भिन्न प्रयोगों को सुनता है तब वह निवृत्ति और प्रवृत्ति (ले जाने और लाने) की क्रियाओं के द्वारा शब्दों के अभिधेय को भी समझता है। प्रारम्भ में वह अलग अलग शब्दों के जिस अर्थ को समझता है उसमें अन्वयांश रहता है। अभिहितान्वयवाद में अभिधा अलग अलग शब्दों में सकेतग्रह कराती है और इस में अन्य पदार्थान्वित शब्द में। इसलिये इस सिद्धान्त के अनुसार तात्पर्याशक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रहती है। इस सिद्धान्त के अनुसार बालक सकेत ग्रह में प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति प्रमाणों का सहारा लेता है। किन्तु इस मत में एक शका हो सकती है। कि गाय लाओ वाक्य में जो लाओ पद है वही' अश्व लाओ' में भी है। इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा के विश्वास से पूर्व पद—'गाय लाओ वाक्यवाला पद का ही निश्चय होता है और उस पद के विशेष अर्थ की प्रतीति के लिए तात्पर्या वृत्ति मानने की आवश्यकता पडेगी। सिद्धान्तवादियों की ओर से इसका उत्तर यह है कि सकेतग्रह अन्य पदार्थान्वित शब्दों में सामान्य प्रकार का होते हुए भी विशेष रूप का प्रत्यय कराता है।[१] दार्शनिक दृष्टि से यह पक्ष अभिहितान्वयवाद से श्रेष्ठ है।[२] यही मत का सार है।

इस सिद्धान्त के अनुसार अभिधा शक्ति अन्य पदार्थान्वित शब्दों में ही सकेत ग्रह कराती है और तात्पर्या शक्ति मानने की आवश्यकता नहीं रहती। वाक्यार्थान्तर्गत शब्द में सकेतग्रह नहीं होता है इसलिए असकेतित होने के कारण अति विशेष वाक्यार्थ तो अवाच्य ही रहेगा। उसके पश्चात् प्रतीत होने वाले व्यंग्यार्थ में तो अभिधावृत्ति का प्रसग ही नहीं हो सकता। फलतः अन्विताभिधान-वादियों के मतानुसार भी व्यंजना शक्ति अभिधा से भिन्न ही ठहरती है।

दीर्घ दीर्घतराभिधा व्यापारवादी और व्यंजना—

इस अन्विताभिधानवाद की एक और शाखा है जो 'यत्पर शब्दः स शब्दार्थः तथा सोऽयमिषोरिवदीर्घदीर्घतरो व्यापार' मानने वाले हैं। इनका सकेत अभिनवगुप्त ने लोचन में दिया है।[३] अधिकतर विद्वान् इसे भट्ट लोल्लट का अभिमत स्वीकार करते हैं, परन्तु डा० एस० के० दे

१ काव्य प्रकाश पचम उल्लास पृ० १११
२ अर्थ विज्ञान और व्याकरण-दर्शन, पृ० ३२७
३ योऽप्यन्विताभिधानवादी 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इतिहृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घमिच्छति। लोचन पृ० २२

इसको शंकास्पद मानते हैं।[1] ये लोग व्यजना-वृत्ति को अभिधा में ही सन्निविष्ट करते हैं। इनकी मान्यता का खडन लोचन में भी उपलब्ध है। परन्तु काव्य प्रकाश म इनकी विशेष आलोचना की गई है अत यहाँ पर उसी का सार दिया जाता है —

बलवान् योद्धा के द्वारा छोडा हुआ तीर अपने वेग नामक व्यापार द्वारा शत्रु के कवच को काटता है, उसके मम स्थान को विदीर्ण करता हुआ उसके प्राणों का हरण करता है। इसी प्रकार अभिधा व्यापार ही पदाथ की उपस्थिति करता है और अन्वयबोध कराके व्यग्याथ की प्रतीति भी कराता है। अभिप्राय यह है कि पदाथ की प्रतीति करान के पश्चात् वक्ता के विवक्षित अथ की प्रतीति के बाद ही उसका विराम होता है। मीमासकों की 'यत्पर शब्द स शब्दार्थ' वाली मान्यता का यही मन्तव्य है। किन्तु ध्वनिवादी इसका यह अर्थ करते हैं कि जो विधेय है वही तात्पय है। वाक्यो म विधि ही साध्य है। वाक्य म कारक सिद्ध होता है और क्रिया साध्य। क्रिया की सिद्धि के लिए ही कारको का प्रयाग होता है। प्रधान क्रिया की सिद्धि के लिए कारको की अपनी क्रियायें भी होती हैं जो गौण क्रियायें हैं। यथा 'गाय लाओ' आदेश के पालन म लाना' प्रधान क्रिया है और लाने वाल एव गाय का चलना गौण क्रियायें हैं। य गौण क्रियायें प्रधान क्रिया की निर्वाहक क्रियायें मानी जाती हैं, किन्तु अदग्ध-दहन न्याय से विधि प्रधान क्रिया म ही होती है, गौण क्रियाओं म नहीं होती है, उनमे भी साध्यात्व हो जाया करता है। उदाहरण के लिये 'लाल पगडी वाले ऋत्विक प्रचरण करते हैं म प्रचरण तो अन्य प्रमाण से सिद्ध है इसलिए लाल पगडी' मे ही विधि है। इसी प्रकार 'दही मे होम करें' में होम तो सिद्ध है केवल 'दही' ही विधि का विषय है। यदि कोई किसी जुलाहे से कहे कि लाल कपडा बुनो' तो यहाँ 'लाल म विधि मानी जायगी। इनम कभी एक वस्तु का विधान होता है, कभी दो का और कभी तीन का। फलत जिसका विधान करना है उसी म विधि का तात्पय है। इस प्रकार उच्चारित शब्द का तात्पय अर्थ म ही होता है प्रतीयमान अथ म नही। यही 'यत्पर शब्द स शब्दाथ' का तात्पय है। यदि उच्चारित शब्द का तात्पय प्रतीयमान अथ म भी स्वीकार कर लिया जायगा तो 'पूर्वोभावति' से अपर' इत्यादि म तात्पय हो जायगा। तात्पर्यार्थ शब्दोपात्त अथ मे होता है और प्रतीयमान उससे पथक रहता है। इसलिए इस सिद्धान्त के अनुसार भी अभिधा के द्वारा व्यग्याथ गताथ नहीं सकता है।[2]

इस पर पूव पक्ष वाले की ओर से प्रश्न किया जाता है 'विष खालो और उसके घर मत खाना' वाक्य का तात्पय यह है कि इसके घर में नही खाना चाहिए। यही वाक्याथ है। परन्तु यह अथ शब्दो से प्राप्त नही होता है, लेकिन यह इस वाक्य का तात्पय तो माना जाता है। जब ऊपर के वाक्य की भाँति शब्दोपात्त अथ से भिन्न अन्य अथ मे तात्पय माना ही जा सकता है और उसम अभिधावृत्ति से काम चल जाता है तब यह कहकर कि व्यग्याथ शब्दोपात्त नही है, तात्पर्याथ से भिन्न कैसे जा सकता है। ध्वनिवादी इसका उत्तर इस प्रकार देते हैं विष खालो और इसके घर मत खाना' इन दोनो वाक्यो को 'और' सयोजक अव्यय जोडता है। इसस दोनो वाक्यो की एक वाक्यता सूचित होती है। इसमें दो पूर्ण क्रियायें हैं 'खालो और मत खाना।' दोनो का अगागीभाव

1 This is dubiously ascribed to Lollat Sanskrtt Poetics
Dr S K De

२ काव्य प्रकाश, पचम उल्लास, पृ० ११३ ११४

नहीं हो सकता है। यह एक मित्र का कहा हुआ वाक्य है। इसलिए दोनों का अंगांगीभाव की कल्पना करनी पड़ती है। अत इसका अर्थ होगा कि इसके घर में भोजन करना विष भक्षण से भी अधिक दोष युक्त है। यह अर्थ लक्षणा से निकलगा। इस प्रकार शब्दोपात्त अर्थ में ही तात्पर्य है, यह सिद्ध हो गया। यहाँ यह अभिधा से न मिलकर लक्षणा से मिलता है। व्यंजना लक्षणा से भी भिन्न है। इसलिये व्यंग्यार्थ का अभिधा से बोध सम्भव नहीं।[1]

यदि शब्द सुन लेने के पश्चात जितना अर्थ मिलता है उतने सब में अभिधा व्यापार ही मान लिया जाय तो 'हे ब्राह्मण! तुम्हारे पुत्र उत्पन्न हुआ है', अथवा 'तुम्हारी कन्या गर्भिणी है' इत्यादि वाक्यों से होने वाले हर्ष एवं विषाद भी वाच्य हो जायेंगे। साथ ही लक्षणा की भी आवश्यकता न होगी। तात्पर्या, लक्षणा और व्यंजना सभी शक्तियों का अंतर्भाव अभिधा में ही हो जायगा। इसलिए व्यंजनाशक्ति माननी ही पड़ेगी।[2]

निमित्तवादी और व्यंजना

मीमांसकों का एक सम्प्रदाय और है जिसे निमित्तवादी नाम दिया जा सकता है। लोचनकार ने अन्विताभिधान के प्रसंग में ही इसका उल्लेख किया है। काव्य प्रकाशकार ने भी इन्हें *अन्विताभिधान और दीर्घतराभिधाव्यापारवादियों के मध्य में स्थान दिया है।* ये लोग व्यंग्यार्थ की प्रतीति के लिए कार्य कारण भाव की स्थापना करते हैं। इनके अनुसार व्यंग्यार्थ प्रतीति नैमित्तिक है और वाच्यार्थ है उसका निमित्त। वाच्यार्थ की प्रतीति शब्द से होती है अत शब्द और व्यंग्यार्थ में निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्ध स्वीकार करने से व्यंजना व्यापार मानने की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी। वह कार्य भी अभिधा से ही सम्पन्न हो जायगा।

इसका खंडन करते हुये काव्य प्रकाशकार ने लिखा है कि निमित्त दो प्रकार का होता है १ कारक और २ ज्ञापक। मिट्टी से घड़ा बनता है इसलिये मिट्टी घड़े का कारक निमित्त है और दीपक अंधकार स्थित घड़े को प्रकाशित करता है इसलिये दीपक घड़े के लिए ज्ञापक निमित्त है। अभिधेय प्रतीयमान को उस प्रकार नहीं बनाता जिस प्रकार मिट्टी घड़े को बनाती है इसलिये दोनों में कारक निमित्त-सम्बन्ध नहीं हो सकता है। यह ठीक है कि शब्द और वाच्यार्थ व्यंग्यार्थ को व्यक्त करते हैं। इनमें ज्ञापक निमित्त भाव भी नहीं हो सकता है क्योंकि दीपक पूर्व सिद्ध घड़े का ज्ञापक है, किन्तु व्यंग्यार्थ पूर्वसिद्ध नहीं है, वह तो वाच्यार्थ के पश्चात प्रतीत होता है। अत शब्द और व्यंग्यार्थ में निमित्त नैमित्तिक भाव मानना ठीक नहीं है।

व्यंजना से दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था

इस सब कथन का निष्कर्ष यह है कि अभिधा के अतिरिक्त व्यंजना व्यापार मानना ही पड़ेगा। यदि व्यंजना व्यापार न माना जायगा तो दोषों की नित्यानित्य व्यवस्था न हो सकेगी। श्रुति कटुत्व आदि दोष काव्य में अनित्य माने जाते हैं और च्युतसंस्कृति आदि नित्य। श्रुति-कटुत्व शृङ्गार रस में दोष स्वीकार किया जाता है। श्रुति कटुत्व वहीं होता है जहां महाप्राण, मूर्धन्य, *द्वित्व आदि वर्णों का प्रयोग होता है।* ये शृङ्गार और करुण में रस विघातक सिद्ध होते हैं इसलिये दोष स्वीकार किये जाते हैं। परन्तु ये ही वीर और रौद्र रसों में ओजकारक होने के कारण गुण

---

१ काव्य प्रकाश पंचम उल्लास, पृ० ११५।

२ वही, पृ० ११६।

हो जाते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि महाप्राण मूर्धन्य और द्वित्व वर्ण ओज की व्यजना करने मे ही समर्थ हैं माधुर्य की नहीं। इसलिये दोषो की नित्यानित्य व्यवस्था के लिये व्यजना का मानना आवश्यक है।

इसी प्रकार काव्य मे कोई शब्द कही उपयुक्त प्रतीत होता है और प्राकरणिक प्रभाव में वृद्धि करने वाला सिद्ध होता है और दूसरा अनुपयुक्त। ब्रह्मचारी शकर पार्वती को शकर से विरक्त करना चाहते हैं। फलत वे कहते हैं —

'द्वय गत सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिन'[1]

यहाँ पर शकर के लिए 'कपाली' शब्द का प्रयोग किया गया है। कपाली से शकर के अघोरीपन, अशुचित्व आदि की व्यजना होती है। इसी के स्थान पर यदि 'पिनाकिन' पद का प्रयोग कर दिया जाय तो उपयुक्त व्यग्यार्थ की प्रतीति न होगी। 'पिनाकी' पद शकर की वीरता, ओज आदि गुणों की व्यजना करता है। यथ —

'कुर्या हरस्यापि पिनाकपाणे धैर्यच्युति के मम धन्विनोऽन्य'[2]

यदि 'पिनाकपाणे' के स्थान पर 'कपालपाणे' कर दिया जाय तो वीरता और ओज की होने वाली व्यजना समाप्त हो जायगी। यद्यपि 'पिनाकी' और 'कपाली' शब्दो का अभिधेय शकर ही है और छन्द की दृष्टि से भी दोनों का गण यगण भी एक ही है। इसलिए व्यजना जसी शक्ति अवश्य माननी पडेगी।

अभिधा और व्यजना का अन्तर

साहित्य दर्पणकार ने अभिधा और व्यजना मे निम्नलिखित बातों में भेद स्वीकार किया है[3] —

१ बोद्ध भेद—वाच्यार्थ की प्रतीति उन लोगों को होती है जो व्याकरण, कोश आदि ग्रन्थों का अध्ययन करते हैं। ये अध्ययन करने वाले वाच्यार्थ मे व्युत्पन्न हो सकते हैं। परन्तु प्रतीयमान की प्रतीति के लिए पद पदार्थ ज्ञान के अतिरिक्त सहृदयता की महती आवश्यकता है। प्रतिभाशाली सहृदय को ही प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति होती है।

२ स्वरूप भेद—कही वाच्यार्थ विधि रूप होता है और कहीं व्यग्यार्थ निषेध-रूप, कही वाच्यार्थ निषेध रूप होता है और व्यग्यार्थ विधि रूप आदि। यह अभिधा और व्यजना का स्वरूप गत अन्तर है।

३ सख्या भेद—'सूर्य छिप गया है' इस वाक्य का वाच्यार्थ एक है किन्तु इसके व्यग्यार्थ अनेक हैं। यही वाच्यार्थ और व्यग्यार्थ का सख्या भेद है।

---

१ कुमार-सम्भव, ५ ७१।

२ वही, ३ १०।

३ बोद्ध स्वरूपसख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीना भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यग्य ॥—सा० द०, ५।२०, पृ० २२२।

को भक्ति से भिन्न सिद्ध करने के लिये जो तर्क दिये हैं उनका साराश यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है।

सहकारी हेतु भिन्नता—

लक्षणा का सवप्रथम हेतु मुख्याथ बाध है। यह पहिले कहा जा चुका है कि लक्षणा की आवश्यकता वही होती है जहा तात्पर्य अनुपपन्न होता है परन्तु व्यजना के लिए मुख्यार्थ बाध की कोई आवश्यक्ता नही है। गगा में अहीर बस्ती है इस वाक्य में 'गगा' का *प्रवाह रूप अथ अन्वय में बाधक होता है। अन्वय सगति के लिये ही 'गगा पद से 'गगा'* के अभिधेय से सम्बद्ध 'गगातट' अथ ग्रहण करके तात्पर्य की सगति स्थिर की जाती है। इसलिए 'गगा' पद लाक्षणिक माना जाता है। 'सूय अस्त हो गया यह एक ऐसा वाक्य है जिससे व्यग्याथ प्रतीति तो हाती है परन्तु उपयुक्त 'गगा में अहीर बस्ती है वाक्य की भाति अन्वय में बाधा उपस्थित नही होती है। मुख्य अथ का बाध लक्षणा का अनिवार्य सहकारी हेतु है, और व्यजना में उसका अभाव है। व्यजना के सहकारी हेतु प्रकरण आदि हैं जिनका आगे उल्लेख किया जायगा। प्रकरण के कारण 'सूय अस्त हो गया' इस वाक्य से अनेक व्यग्यार्थों की प्रतीति होगी। फलत सहकारी हेतुओ की भिन्नता के कारण लक्षणा और व्यजना भिन्न भिन्न शक्तियाँ ही मानी जायगी।

सम्बन्ध भेद—

लक्षक शब्द का लक्ष्याथ के साथ नियत सम्बन्ध होता है। उपयुक्त वाक्य में गगा' पद लक्षक है और 'गगा तट' उसका लक्ष्याथ है। गगा का अपने तट के साथ नियत सम्बन्ध है। 'गगा पद लक्षक होकर तट इत्यादि का ही बोधक हो सकता है। किसी असम्बद्ध पदाथ का बोधक नही हो सकता है। इसके विपरीत 'सूय अस्त हो गया' इस वाक्य का प्रकरण के अनुसार 'सन्ध्या कीजिये, अभिसार का समय हो गया', 'गायो को घर ले चलो आदि अनेक व्यग्यार्थों को प्रतीति हो सकती है। उपयुक्त लक्ष्याथ की भाति यहाँ कथित वाक्य और व्यग्याथ में कोई नियत-सम्बन्ध नही है। उसका नियत अनियत और सम्बद्ध सम्बन्ध भी हो सकता है। इसलिए दोनों शक्तियाँ भिन्न भिन्न स्वीकार की जायगीं।

निमित्त भेद और सख्या भेद—

लक्ष्याथ का बोधक निमित्त वसे तो शब्द ही होता है परन्तु जहा वाक्य में एक से अधिक लक्षक पदो का प्रयोग होता है वहाँ परम्परा से वाक्य को भी लक्षक माना जा सकता है। इस प्रकार लक्षक दृष्टि से लक्षणा के दो ही लक्षक सम्भव हैं। एक शब्द और दूसरा वाक्य। लक्षणा का वाक्य से परम्परा सम्बन्ध है, साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। वाक्य में एक से अधिक लक्षक पद होते हैं। पदवादियो की दृष्टि में तो लक्ष्याथ का केवल शब्द ही लक्षक हो सकता हैं। वहाँ लक्षणा का केवल एक पदगत ही भेद सम्भव है। इसके विपरीत व्यग्याथ के वर्ण, पद्याश, पद वाक्य, प्रबन्ध आदि अनेक व्यजक होते हैं।[1] इसलिए केवल शब्द लक्षित लाक्षार्थ और वर्ण, पद्याश पद आदि से अभिव्यक्त व्यग्याथ एक स्वीकार नहीं किये जा सक्ते। फलत लक्षणा में व्यजना का अन्तर्भाव सम्भव नही है।

---

१ पदैकदेश रचना वर्णेष्वपि रसादय ना० प्र०, सूत्र ६१।

विषय भेद—

लक्ष्यार्थ का व्यंग्यार्थ से विषयभेद भी है। लक्ष्यार्थ में विषय की भिन्नता नहीं होती है। वह प्रत्येक व्यक्ति के लिये एक ही होता है जबकि एक ही वाक्य का व्यंग्यार्थ भिन्न भिन्न व्यक्तियों को भिन्न भिन्न प्रतीत हो सकता है।

काल भेद—

लक्षणा और व्यंजना का एक भेदक तत्व यह भी है कि व्यंजना को सर्वदा लक्षणा के पश्चात् ही अवसर मिलता है। 'गंगा में आभीर बस्ती है' वाक्य में 'गंगा' शब्द तो 'गंगातट' का बोधक है परन्तु व्यंजना से तट बोध के पश्चात् जो शीतलता और पवित्रता का बोध होता है वह व्यंजना से होता है। लक्षणा से इस शीतलता और पवित्रता का बोध सम्भव नहीं है। जो विद्वान प्रयोजन विशिष्ट लक्ष्यार्थ को स्वीकार करते हैं उनका खंडन करते हुये काव्य प्रकाश-कार ने लिखा है, 'जब हम किसी पदार्थ को प्रत्यक्ष करते हैं तो वह पदार्थ हमारे ज्ञान का विषय होता है, परन्तु इस प्रत्यक्ष ज्ञान का फल ज्ञान के विषय से भिन्न वस्तु है। इस फल को मीमांसक ज्ञातता और नैयायिक 'संवित्ति' मानते हैं। मैं घड़े को देखता हूँ, इस उदाहरण में घड़ा ज्ञान का विषय है और देखने के पश्चात् होनेवाला 'संवित्ति' उससे बिल्कुल भिन्न है। यह संवित्ति अथवा 'बोध' देखने वाले कर्त्ता को होता है। इसी प्रकार 'गंगा' पद का लक्ष्यार्थ गंगा तट हुआ। यही उसका विषय हुआ। इसका फल शीतलता और पवित्रता हुआ। यह 'संवित्ति' विषय ज्ञान के सर्वदा पश्चात् ही होगी। वह पहिले अथवा समकालिक कभी नहीं हो सकती है। ज्ञान के फल जो संवित्ति रूप होता है—का बोध सदा लक्षणा के अतिरिक्त व्यंजना शक्ति से ही सम्भव है। यही कारण है कि लोचनकार ने लक्षणा को तृतीय कक्षानिवेशी माना है। अर्थात् दोनों में काल भेद भी है।

क्षेत्र भिन्नता अथवा अतिव्याप्ति तथा अव्याप्ति—

यदि लक्षणा में व्यंजना का अन्तर्भाव स्वीकार कर लिया जाता है तो दोनों के क्षेत्र भी समान स्वीकार करने पड़ेंगे। इस प्रकार व्यंजना की स्थिति रूढ़ा लक्षणा के प्रसंग में भी माननी पड़ेगी। वह लक्षणा का क्षेत्र तो है परन्तु व्यंजना का नहीं है क्योंकि रूढ़ा लक्षणा व्यंग्य रहित होती है। लक्षणा की दृष्टि से यहाँ अतिव्याप्ति दोष माना जायगा। अर्थात् लक्षणा के पूरे क्षेत्र में व्यंजना को अवसर नहीं मिलता है, वह तो लक्षणा के केवल एक भेद प्रयोजनवती में ही स्थान पाती है। दोनों शक्तियों के एक मानने में अव्याप्ति दोष भी आता है। वह इस प्रकार कि लक्षणा तो केवल लक्षणामूला व्यंजना में ही व्यंजना का निमित्त बन पाती है, अभिधामूला व्यंजना में तो उसको कोई स्थान ही नहीं है। अर्थात् लक्षणा व्यंजना के पूरे क्षेत्र में नहीं जाती है।[1] फलतः क्षेत्रों की भिन्नता के कारण भी व्यंजना लक्षणा से नितान्त भिन्न शक्ति है।

मुकुलभट्ट का ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न—

'अभिधावृत्तिमातृका' के प्रणयन से पूर्व ध्वनि सिद्धान्त का प्रतिपादन हो चुका था, परन्तु फिर भी मुकुल भट्ट ने ध्वनि को गौणी लक्षणा में अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया। लक्षणा पर विचार करते हुये उन्होंने लक्षणा के तीन भेदक तत्व माने हैं—वक्ता, वाक्य और वाच्य।[2] परन्तु

---

१ अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्नत्वासौ लक्ष्यते तया। ध्व० १-१७

२ अभिधा वृत्तिमातृका, का० ६

ये लक्षणा के निश्चित भेदक तत्व नही हैं, अपितु व्यजना के निश्चित भेदक तत्व हैं। इनका उल्लेख आर्थी व्यजना के प्रसग म किया जायगा। आचाय ने वक्तृ निबन्धना लक्षणा का जो उदाहरण दिया है वह व्यजना की वस्तु ध्वनि का है और उसकी प्रतीति वक्तृ वशिष्टयगत आर्थी व्यजना से होती है। आचाय द्वारा स्वीकृत लक्ष्याथ म लक्षणा के सहकारि हेतु मुख्यार्थबाध आदि नहीं मिलते हैं। वाक्य निबन्धना लक्षणा का जो उदाहरण दिया गया है वह अलकार ध्वनि का है, लक्षणा का नही और वाच्य निबन्धना लक्षणा का उदाहरण रसध्वनि का है। इस प्रकार नूतनतया उपवर्णित ध्वनि का उन्होने जो लक्षणा म अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया वह असफल ही सिद्ध हुआ।

आचाय कुन्तक—

यद्यपि आचाय कुन्तक ने लक्षणा का उतना भी उल्लेख नही किया है जितना अभिधावादी मुकुल भट्ट ने फिर भी कतिपय विद्वान उन्हे भक्तिवादी स्वीकार करते है। इन विद्वानो मे एका वलीकार विद्याधर और डा० हरिश्चन्द्र शास्त्री हैं।[१] कुन्तक ने उपचार वक्रता मे ध्वनि के अविवक्षितवाच्य भेद का समावेश करने का प्रयत्न किया है, उन्हे भक्तिवादी नही माना जा सकता है। वह वक्रोक्तिवादी है जो विचित्र अभिधा रूप है। मुकुलभटट ने कहकर ध्वनि का लक्षणा म अन्तर्भाव करने का प्रयत्न किया है। कुन्तक न ऐसी प्रतिना कही नही की है, उन्होने तो ध्वनि के समान एक सबल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनको लक्षणावादी नही माना जा सकता है।

अनुमान और व्यजना—

अनुमान में भी व्यजना का अन्तर्भाव सम्भव नही है। अनुमान नानोपलब्धि का प्रमाण माना जाता है। अनुमान की सहायता स यथाथ नान होता है। यद्यपि चार्वाक अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण नहीं मानते हैं। उनका कहना है कि अनुमान से केवल सम्भावित नान ही हो सकता है। अनुमान कभी भी निश्चयात्मक यथार्थ ज्ञान नही प्रदान कर सकता। यद्यपि यह भी एक प्रश्न है जिसका उत्तर सहज नही दिया जा सकता है। परन्तु चार्वाको के अतिरिक्त अन्य सभी भारतीय सम्प्रदाय अनुमान को स्वतन्त्र प्रमाण मानते हैं।[३]

ध्वनि विरोधियो मे केवल महिमभटट ने ही सम्पूण ध्वनि के भेद प्रभेदो का अन्तर्भाव अनुमान मे करने का प्रयत्न किया है।[४] इसलिये उनके ही उदाहरण और तर्कों का अध्ययन आवश्यक है।

महिम भटट काश्मीर के शव परम्परा के अनुयायी होने के कारण रस का विरोध न कर सके। रस काव्य के साररूप में भी उनको स्वीकाय है यद्यपि ध्वनिवादी रस मान्यता और उनकी मान्यता म थोडा अन्तर अवश्य है। उनकी शब्दावली मे कही-कही ध्वनिकार का अनुभोदन सा जान पडता है। जस, वाच्याथ मे वसा आस्वाद नही है जसा उस प्रतीयमान मे है।[५] इस बात को उन्होने

१ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० २७७
२ अभिधा-वृ० पृ० २१
३ भारतीय तर्कशास्त्र, पृ० ५४
४ व्यक्तिविवेक, पृ० १–१
५ वाच्यो हि अर्थो न तथा स्वदते यथा स एक प्रतीयमान । ध्वनि० सम्प्रदाय, पृ० ३०४

दुहराया भी है।[1]

अर्थ के भेद करते हुए महिम भट्ट ने कहा है कि अर्थ दो प्रकार का होता है, वाच्य और अनुमेय। वाच्यार्थ शब्द व्यापार का विषय होता है। यही अर्थ मुख्य है। इसी लिंगभूत वाच्यार्थ की सहायता से जो अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे अनुमेय कहते हैं। यह अनुमेय अर्थ तीन प्रकार का है वस्तुमात्र, अलंकार और रसादि। इनमें से प्रथम दो वाच्य में भी हो सकते हैं तृतीय तो अनुमेय ही है।[2]

उपर्युक्त कथन से यह निष्कर्ष निकला कि अनुमानवादी व्यक्ति विवेककार अभिधेय को ही मुख्य मानते हैं। काव्य में वाच्यार्थ के अतिरिक्त जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है वह अनुमेयार्थ है। ध्वनिवादी व्यंजना को चौथी शक्ति स्वीकार करता है अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यंजना और चार प्रकार के अर्थ अभिधेय, लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ और व्यंग्यार्थ। अनुमानवादी का केवल दो ही अर्थ मान्य हैं वाच्य और अनुमेय। कहने का अभिप्राय यह है कि वह लक्ष्यार्थ, तात्पर्यार्थ और व्यंग्यार्थ सभी का अनुमेयार्थ में अन्तर्भाव करना चाहता है। लक्ष्यार्थ में वाच्यार्थ अनुपपन्न होता है। अनुमान में वाच्यार्थ की अनुपपन्नता सह्य नहीं हो सकती। इसलिये लक्ष्यार्थ का अन्तर्भाव अनुमेयार्थ में नहीं हो सकता है। तात्पर्यार्थ का सम्बन्ध केवल वाक्य से है। वह वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ बोध के लिए हेतु, व्याप्ति, परामर्श की आवश्यकता नहीं पड़ती है। अनुमेयार्थ सर्वदा यथार्थ ज्ञान ही होगा। वाक्यार्थ के लिये ऐसा कोई नियम नहीं है। इसलिये तात्पर्यार्थ भी अनुमेयार्थ से भिन्न ही है।

जिस प्रकार आनन्दवर्धन ने ध्वनि को वस्तुमात्र अलंकार और रस भेद से तीन प्रकार का माना था उसी प्रकार महिमभट्ट ने भी अनुमेयार्थ को वस्तुमात्र, अलंकार और रस भेद से तीन प्रकार का माना है।

व्यंग्यार्थ में सर्वदा चमत्कार स्वीकार नहीं किया जाता है। कभी-कभी वह चारुत्वहीन भी होता है, परन्तु अनुमेयार्थ में चमत्कार ही स्वीकार किया जाता है। यह भी दोनों में असामंजस्य की स्थिति है।

अनुमान प्रमाण की सहायता से ऐसे पदार्थों का ही बोध होता है जिनकी पूर्व सत्ता निश्चित है उन पदार्थों का ज्ञान जिनकी पूर्व सत्ता का निश्चय नहीं है अनुमान से सम्भव नहीं है। साथ ही इस ज्ञान के निश्चित हेतु होते हैं। व्याप्ति सबसे प्रथम हेतु है। दो सत्तात्मक पदार्थों के नियत सम्बन्ध ज्ञान को व्याप्ति कहते हैं जो उसकी जीवन में बार बार देखने से होता है। इन नियत सम्बन्ध वाले दो पदार्थों में से प्रत्यक्ष पदार्थ अप्रत्यक्ष पदार्थ का लिंग माना जाता है। व्याप्ति और लिंग आदि का विचार ही परामर्श कहलाता है। परामर्श से ही अनुमेय का ज्ञान होता है। जस

१ वाच्यो ह्यर्थो न तथा, चमत्कारमातनोति यथा स एव विधि निषेधादि काव्याभिधेयता मनुमेयतामवतीर्ण इति। व्यक्ति० विवेक, पृ० ५४

२ अर्थोपि द्विविधो वाच्योनुमेयश्च। तत्र व्यापार विषयो वाच्य। स एव मुख्य उच्यते। तत एव तदनुमिताद्वा लिंगभूताद्यदर्थान्तरमनुमीयते सोनुमेय। सच त्रिविध। वस्तुमात्रमलंकारा रसादयश्चेति। तत्राद्यौ वाच्यावपि सम्भवत। अन्यस्त्वनुमेय एवेति। व्यक्ति-विवेक, पृ० ३९

जीवन म अनेक बार आग और धुयें के नियत सम्बन्ध का नान हो जाने पर वही पवत इत्यादि म धुआ देखने पर वहा पर अप्रत्यक्ष अग्नि की सत्ता का नान हो जाता है। अग्नि के समान रस की पूव सत्ता नही मानी जा सकती है। रस की स्थिति तो उतनी ही देर की होती है जितनी देर उसकी अनुभूति हाती है। न तो अनुभूति से पहले उसकी सत्ता है और न बाद म। दूसरे जिस प्रकार धुयें का अग्नि से नियत सम्ब घ हैं उस प्रकार कि ही विशष विभाव इत्यादि का किसी विशेष रस से नियत सम्बन्ध नही हाता है, इसका बोधक कोई निश्चित हतु सम्भव नही है। एसी स्थिति मे रसानुभूति को कदापि अनुमेय स्वीकार नही किया जा सकता है। यदि यह ज्ञान हो भी गया है कि राम सीता से प्रेम करते हैं तो इतने नान से वह आनन्द प्राप्त नही हो सकता है जो रसानुभूति काल मे प्राप्त होता है। यदि चार्वाक के सिद्धान्त को माना जाता है तो राम सीता के प्रेम का निश्चयात्मक नान ही सम्भव नही है।

इसी प्रकार अलकार—ध्वनि का भी अनुमान से ज्ञान सम्भव नही है। वस्तु ध्वनि के कतिपय उदाहरण अनुमेयाथ मे सम्मिलित किये जा सकते हैं, लकिन जब रस बोध और आक्षिप्त अलकार ज्ञान के लिये व्यजना की स्वीकृति आवश्यक है तो वस्तु ध्वनि को अनुमेयाथ म सम्मिलित करने से कोई लाभ भी नही है। महिमभट्ट ने प्राय वस्तु ध्वनि क उदाहरणो को ही अनुमय म गताथ सिद्ध किया है।

इसलिये व्यजना का अनुमान मे अन्तर्भाव सम्भव नही है। व्यजना को भिन्न शक्ति स्वीकार करना अनिवाय है।

अखड बुद्धिवादी और व्यजना—

अखडतावादी दो हैं—१ वेदान्ती और २ वैयाकरण। लाचनकार एव काव्य प्रकाश कार न दोनो मतो को एक साथ रखकर आलाचना की है। यहाँ पर दोनो के मतो की अलग अलग विवेचना की जायगी। वदान्ती 'एकमवाद्वितीय ब्रह्म' 'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या आदि श्रुतियो के द्वारा ब्रह्म का नित्यता, अखण्डता और अद्वितीयता एव ससार की अनित्यता आदि सिद्ध करते है। उनकी दष्टि म नित्य और अखड ब्रह्म अखड बुद्धि द्वारा ही ग्राह्य है। इसलिये अखड बुद्धि द्वारा परब्रह्मात्मक वाक्याथ भी अखड हा सिद्ध हुआ। फलत अखड अथ का बोधक निमित्त वाक्य भी अखड ही होगा। उसमे क्रिया कारक विभाग करना भी अनुचित है। क्रिया और कारक भाव धम धर्मिभाव के आधार पर ही सम्भव है और वह धर्म धर्मिभाव ससार क मिथ्या होने के कारण असम्भव है। ब्रह्म सभी धर्मों से परे है अतएव धम धर्मिभाव उसमे नही बन सकता है। जब धम धर्मिभाव न तो मिथ्या होने के कारण ससार म बन सकता है और न निर्गुण होने के कारण ब्रह्म में ही सम्भव है तो पद-पदाथ की कल्पना भी असम्भव है। पद पदाथ विभाग से रहित अखड वाक्य ही अखड बुद्धि द्वारा अखड ब्रह्म का प्रत्यायक है। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्याथ बोध में बुद्धि क्रिया-कारकादि-भाव ग्रहण नही करती अपितु एक रस अखड वाक्याथ ग्रहण करती है। इस प्रकार वाक्य ही वाचक है और सम्पूर्ण वाक्याथ ही वाच्य है। इस मत के अनुसार वाच्य, लक्ष्य, व्यग्य अथवा उससे भी आगे बढकर जितना अथ निकलता है वह सब अखड वाक्य का ही वाच्य है। उसके वाच्य लक्ष्य और व्यग्य भेद करना अनुचित है। निष्कष यह है कि व्यजना शक्ति की स्वीकृति को इस मत म कोई आवश्यकता नही है।

इस का उत्तर आचार्य मम्मट ने इस प्रकार से दिया है —*जो लोग अखड वाक्य से अखड* वाक्याथ के समथक हैं उनकी भी दो दृष्टियां हैं—१ ब्रह्म दृष्टि और २ ससार दृष्टि । यह ससार-दृष्टि ही *व्यवहार दृष्टि है* । इस मायामय ससार के व्यवहार म उस अभेद दृष्टि से काम नही चलता जो अखड ब्रह्म विषयिणी है। ससार के व्यवहार में आकर अनेकभेद प्रभेद कल्पना उन वेदान्तियो को भी करनी पडती हैं। वे लोग भी इस लौकिक भेद प्रभेद कल्पना को व्यावहारिक सत्य मानते हैं और उसके अनुसार व्यवहार करते हैं। फलत परमाथत अखड वाक्य में उन्हें भी पद पदाथ विभाग अवश्य मानना पडेगा। पद-पदाथ विभाग मानते ही व्यग्याथ और व्यजना वृत्ति की स्वीकृति भी स्वत हो जायगी।[1]

व्याकरणशास्त्र और व्यजना—

नागेश के 'व्याकरण सिद्धान्त मञ्जूषा' से पूव व्याकरण में व्यजना का उल्लेख प्राप्त नही होता है।[2] इसका थोडा सा सकेत कोण्ड भट्ट के व्याकरण भूषणसार मे भी मिलता है। उन्होने व्याकरणो के स्फोट मे आलकारिको की ध्वनि को सबद्ध स्वीकार किया है। इस सम्बन्ध में उन्होने काव्य प्रकाश की वृत्ति का थोडा सा अश दिया है। नागेश ने व्यजना का अपने ग्रन्थ म विस्तृत वणन किया है। और अन्त म यह सिद्ध किया है कि आलकारिको की भाँति व्याकरणो द्वारा भी व्यजना की स्वीकृति आवश्यक है।[3] उन्होने व्यजना का लक्षण भी सर्वांगपूण दिया है।

यह ठीक है कि व्याकरण शास्त्र मे नागेश से पूव व्यजना का विवेचन नही हुआ है। परन्तु यह भी निर्विवाद है कि काव्यशास्त्र म ध्वनि की प्रतिष्ठा व्याकरणशास्त्र की कृपा से हुई है। व्याकरणो के इस ऋण को प्राय सभी ध्वनिवादी आचार्यों ने स्वीकार किया है।[४] ध्वनि की प्रेरणा व्याकरण के स्फोट स प्राप्त हुई है और उसी से इसकी पारिभाषिक शब्दावली भी ग्रहण की गई है। यही नही ध्वनि के विभिन्न रूपो का सकेत भी ध्वनिकार को व्याकरणो से ही मिला। इसका विस्तृत विवेचन लोचनकार ने किया है।[५] इस का सक्षिप्त परिचय प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रथम अध्याय के प्रारम्भ म है। व्यजना पर स्फोट का इससे अधिक प्रभाव नही है। स्फोट व्याकरण का वह सिद्धान्त है जिसके आधार पर वे शब्द और अथ का सम्बन्ध निश्चित करते हैं। साथ ही यह विचार भी करते हैं कि अनेक वर्णों से बना हुआ शब्द किस प्रकार पदाथ का बोध कराता है, पद का पदाथ स क्या सम्बन्ध है ? ये सभी प्रश्न अभिधेय से ही सम्बन्धित हैं। स्फोट का व्यग्याथ स कोई सम्बन्ध नही है। यह भी सत्य है कि प्रतीक पदाथ का व्यजक माना

---

१ काव्य प्रकाश पचम उल्लास, पृ० १२३।

2 *There is no evidence to believe that vyanjana was ever recognised by the ancient Grammarians* Philosophy of Sanskrit Grammer

३ वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यक । परमलघु मजूषा, पृ० ६४।

४ बुधैर्वैयाकरण प्रधानीभूत स्फोट व्यग्य व्यजक शब्दस्य ध्वनि-व्यवहार कृत ।
—का० प्र०, १।४ की वृत्ति

५ लोचन, पृ० ५५ ५६।

जाता है, परन्तु पदार्थ व्यग्यार्थ न होकर अभिधेयार्थ है। भाषा के अध्ययन मे स्फोट सिद्धान्त न अनुपम योगदान दिया है।

अर्थापत्ति प्रमाण और व्यजना—

मीमासक प्रसिद्ध चार प्रमाणो–प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, और आप्त से भिन्न पाँचवा अर्थापत्ति प्रमाण और मानते हैं। नयायिक अर्थापत्ति को प्रमाण नही स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार वह अनुमान का ही भेद है। यदि अर्थापत्ति को अनुमान के अ तगत स्वीकार कर लिया जाता है तो यह सिद्ध किया जा चुका है कि रस अलकार रूप व्यग्याथ कदापि अनुमेय नही है। इसलिये अनुमान को प्रतीयमान अथ की प्रतीति मे असमथ सिद्ध करने पर 'अर्थापत्ति' स्वत ही प्रतीयमान अथ को प्रतीति मे असमथ हो जाती है। मीमासको के अनुसार इसको अनुमान से भिन्न मानने पर इस पर विचार करना आवश्यक है। उनके मत से अर्थापत्ति म उपपाद्य ज्ञान से उपपादक की कल्पना की जाती है।[1] *अर्थात जहाँ पर अथ अनुपपन्न होता है वहाँ पर इसकी सहायता से अर्थ* की उपपत्ति सगति बिठाने वाल हेतु की कल्पना की जाती है। जसे, मोटा देवदत्त दिन म भोजन नही करता। यहा पर बिना भोजन के स्थूलता को सगति नही बठती, इसलिये देवदत्त के रात्रि भोजन की कल्पना की जाती है। रात्रि भोजन की कल्पना से ही अथ की उपपत्ति बठ जाती है। इस रात्रि भोजन की कल्पना अर्थापत्ति से होती है। अनुमान की भाति अर्थापत्ति में भी पूव सिद्ध एक प्रकार की व्याप्ति की आवश्यकता होती है। ससार म जो अधिक भोजन करता है वही मोटा देखने मे आता है, यही पूव सिद्ध-व्याप्ति है। इस व्याप्ति स परिचित जब यह जानता है कि मोटा देवदत्त दिन मे भोजन नहीं करता है तो वह उस व्याप्ति के आधार पर रात्रि भोजन की कल्पना कर लेता है। त्रिविध व्यग्याथ के सम्बन्ध मे इस प्रकार की कोई पूव सिद्ध व्याप्ति नही होती हैं। यदि किसी प्रकार खीचतान करके अर्थापत्ति से वस्तुबोध स्वीकार भी कर लिया ज य तो भी अलकार बोध और रस बोध किसी प्रकार भी अर्थापत्ति स सम्भव नही है। विश्वनाथ न अर्थापत्ति को अनुमान के अन्तगत मानते हुये इसका इस प्रकार खडन किया है अर्थापत्ति पूव सिद्ध व्याप्ति के ऊपर अश्रित रहने के कारण व्यग्याथ का बोध नही करा सकती। इसलिये उसका भी खडन हो गया। जसे चत्र को जीवित मानने पर उसकी कही उपस्थिति अवश्य माननी पडेगी चाहे वह यहाँ गोष्ठी मे अनुप स्थिति हो क्योकि जो कोई जिन्दा होता है वह कही न कही विद्यमान अवश्य होता है।[2] फलत व्यजना अर्थापत्ति से भी भिन्न है। अर्थापत्ति से भी त्रिविध व्यग्य का बोध सम्भव नही है।

यह निश्चय हो गया कि एक एसा भी अथ है जो न तो अभिधा से सकेतित होता है और न लक्षणो स लक्षित अपितु व्यजना नामक शब्द की चतुथ वृत्ति से ही व्यक्त होता है। आचाय विश्वनाथ ने व्यजना की परिभाषा म इसी तथ्य का उल्लेख किया है कि अभिधा इत्यादि शब्द शक्तियो के स्व स्व अथ को प्रकट कर विरत हो जाने पर जिस शक्ति स अन्य अथ का बोध होता है। उसे व्यजना कहते है। कतिपय प्राचीन आचाय व्यजना को शब्द की शक्ति स्वीकार नहीं करते हैं। व्यजना का शब्द से कितना सम्बन्ध है और अथ से कितना इस प्रश्न ने काव्य शास्त्रियो को विशेष उलझन म डाला है। दो एक आचाय, कुन्तक, अप्पय दीक्षित आदि विद्वानो ने

---

१ उपपाद्य ज्ञानेनोपपादक कल्पनमर्थापत्ति। वेदान्त परिभाषा।

२ साहित्य दपण, पचम परिच्छेद पृ० २३५।

शाब्दी व्यजना को अस्वीकार करके प्रकारान्तर से उसे अर्थ-शक्ति ही स्वीकार किया है। इधर प्रो० कान्तानाथ शास्त्री तलग ने अपने एक लम्बे निबन्ध 'व्यजना अर्थ का व्यापार है शब्द का नही' मे यही मत व्यक्त किया है कि व्यजना को शब्द शक्ति न मानकर अर्थशक्ति मानना चाहिये।[1] 'कविराज मुरारिदान के अलकार ग्रन्थ 'यशवन्त यशोभूषण' के सस्कृत अनुवादक रामकरण असोपा भी शब्द-शक्ति मूला व्यजना स्वीकार करने के पक्ष मे नही हैं।[2] इसके विपरीत सभी ध्वनि वादी व्यजना को शब्द-शक्ति स्वीकार करते हैं। मम्मट ने व्यजना के शाब्दी और आर्थी भेद करके शाब्दी के दो भेद माने हैं—१ लक्षणामूला शाब्दी-व्यजना और २ अभिधा मूला शाब्दी व्यजना। लक्षणामूला शाब्दी व्यजना में शब्द का प्राधान्य होता है। क्योंकि लक्षणामूला व्यजना प्रयोजनवती लक्षणा के प्रयोजन को ही व्यक्त करती है। प्रयोजनवती लक्षणा के तीन आवश्यक तत्व हैं—१ सकेतितार्थ का बोध २ तत्सम्बन्ध और ३ प्रयोजन। इनमे भी प्रथम तत्व प्रमुख और द्वितीय और तृतीय गौण हैं क्योंकि सकेतितार्थ के बोध होने पर ही उनको अवकाश प्राप्त होता है। सकेतितार्थ का शब्द से अविच्छेद्य सम्बन्ध है। किसी विशेष शब्द का ही एक विशेष सकेतित अर्थ होता है। एक विशेष सकेतित अर्थ को निश्चित शब्द ही प्रकट कर सकता है। इसमे अव्यवस्था स्वीकार नही की जा सकती। इसलिये लक्षणामूला शाब्दी व्यजना मे शब्द का ही प्राधान्य मानना पडेगा अर्थ का नही। यह सत्य है कि लक्षणामूला व्यजना म शब्द परिवृत्ति सह होता है। 'गगाया घोषे', मे प्रयोजनवती लक्षणा है। यहा पर 'गगा' शब्द के सकेतित अर्थ प्रवाह का बोध होता है। इसी शब्द के प्रयोग के कारण लक्षणा को अवसर मिलता है। परन्तु 'गगा' के स्थान पर उसके पर्यायवाची 'जाह्नवी' आदि शब्दो का भी प्रयोग किया जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द परिवृत्तिसह होने पर भी अर्थ की अपेक्षा प्रधान है। व्यजना को शब्द-शक्ति स्वीकार करने का यह एक कारण है।

अभिधामूला शाब्दी व्यजना के भी तीन आवश्यक तत्व हैं—१ अनेकार्थक शब्द का प्रयोग २ प्राकरणिक एव अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति ३ अलकारान्तर की प्रतिभा। अनेकार्थ के शब्दो के प्रयोग म इसके अतिरिक्त दूसरी स्थिति यह भी हो सकती है कि शब्द से प्रकट होने वाले कम से कम दो अर्थ प्राकरणिक हो अर्थात वे दोनो वक्ता और श्रोता को मान्य हो। जहा दोनो अर्थ प्राकरणिक माने जाते है वहा श्लेष अलकार वाच्य होता है। यथा—

रावण सिर सरोज बन चारी।
चली रघुवीर शिलीमुख धारी।

इस अर्द्धाली में सिर सरोज रूपक को सार्थक सिद्ध करने के हेतु शिलीमुख के दो अर्थ बाण एव भ्रमर प्राकरणिक हैं अत यहा श्लेष अलकार है। बाण इसलिये प्राकरणिक है कि यह राम रावण के युद्ध के समय की उक्ति है और भ्रमर इसलिये प्राकरणिक है कि वक्ता अथवा कवि का बाण के लक्ष्य सिर पर सरोज का आरोप अभीष्ट है। अतएव यहाँ 'शिलीमुख' शब्द के स्थान पर कोई दूसरा शब्द नही प्रयुक्त हो सकता है कारण यही एक ऐसा शब्द है जिसके दो अभीष्ट सकेतित अर्थ हैं बाण और भ्रमर। इससे स्पष्ट है कि श्लेष म शब्द बदला नही जा सकता है। श्लेष की भाति ही अभिधामूला शाब्दी व्यजना मे भी अनेकार्थक शब्द परिवृत्यसह होता है। शब्द के परिवृत्यसह होने

---

१ ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५३ १ २।
२ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त म उद्धृत, पृ० १६७।

के कारण ही इस व्यजना को शाब्दी मानना पूर्ण युक्ति सगत है। शाब्दी के दोनो ही भेदो म शब्द का ही प्रामुख्य है और ये ही कारण है कि आचार्यों ने व्यजना को शब्द शक्ति ही स्वीकार किया है।

व्यजकता में शब्द और अर्थ का साहचर्य—

मम्मट और विश्वनाथ ने व्यजना के दो भेद (१) शाब्दी और (२) आर्थी माने है। यह विभाजन पूर्ण युक्ति-सगत है। कारण, व्यग्यार्थ की व्यजकता में कभी शब्द की प्रधानता होती है, अथवा किसी अर्थ विशेष की। अर्थ की व्यजकता पर विचार आर्थी व्यजना के प्रसग म किया जायगा। व्यग्यार्थ की प्रतीति में जब शब्द का प्राधान्य होता है वहाँ अर्थ की सहकारिता रहती है। जब अर्थ का प्राधान्य होता है और अर्थ शब्द से सकेतित होता है इसलिये शब्द का साहाय्य होना है। अर्थात व्यग्यार्थ की प्रतीति म शब्द और अर्थ दोनो का साहचर्य विद्यमान रहता है। इसी आधार पर व्यजना के शाब्दी और आर्थी भेद किये गये हैं। इनमे से शाब्दी व्यजना का क्षेत्र आर्थी की अपेक्षा सीमित है। व्यजना को अभिधा आदि की भाति शब्द शक्ति ही मानना उचित है। कुछ विद्वान व्यजना को अर्थ की ही शक्ति स्वीकार करते हैं। परन्तु शब्दशक्ति-मूल व्यग्यार्थ स्वीकार करने पर उसके शाब्दी रूप का अपलाप सम्भव नही है। यह ठीक है कि व्यजना का शब्द से वैसा सम्बन्ध नही है जैसा कि अभिधा आदि अन्य शब्द शक्तियो का। व्यजना को शब्द शक्ति मानना उचित ही है।

शब्द शक्ति का आर्थी भेद—

व्यजना का शब्द से सम्बन्ध स्वीकार करने पर उसका आर्थी भेद करना भी वदतो व्याघात सा प्रतीत होता है। यदि उसका आर्थी भेद भी स्वीकार किया जाता है तो उसे शब्दार्थ उभय की शक्ति मानना समीचीन होगा। इसका उत्तर काव्य प्रकाशकार ने दिया है कि शब्द प्रमाण से हो सवेद्य अर्थ जब दूसरे अर्थ को व्यक्त करता है तो व्यजकता म प्राधान्य अर्थ का ही हो जाता है। यद्यपि शब्द का साहचर्य बना रहता है। प्रमाणान्तर सवेद्य अर्थ व्यजक नही होता है। इसलिये व्यजना के शब्द-शक्ति होने हुये भी शाब्दी और आर्थी जैसे भेद भी उचित ही हैं।

शाब्दी व्यजना और प्रकरण—

व्यग्यार्थ मात्र की प्रतीति प्राय प्रकरण के कारण ही होती है। यहा पर प्रकरण का प्रयोग उपलक्षण के रूप म है। वक्ता, श्रोता की सभी स्थितियाँ, कथन भगिमा स्थान काल आदि का समावेश प्रकरण के भीतर ही होता है। इसी प्रकरण की सहायता से सहृदयो को व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। प्रसिद्ध भाषा—वैज्ञानिक ब्लूमफील्ड ने वक्तबोद्ध यदि प्रकरण की महत्ता घोषित करते हुये कहा है यदि हम प्रत्येक वक्ता की स्थिति तथा प्रत्येक श्रोता की प्रतिपत्ति का पूर्ण ज्ञान हो, तो केवल इन्हा दो वस्तुओ को हम किसी शब्द के अर्थ के रूप म ग्रहण कर सकते हैं। केवल इन्ही के आधार पर हम अपने अध्ययन के विषय का समस्त ज्ञान के अन्य क्षेत्रो से अच्छी तरह अलग कर सकते हैं।[1] कतिपय पाश्चात्य विद्वान प्रकरण को केवल मानसिक प्रक्रिया

1 If we had an accurate knowledge of every speaker s situation and of every hearers response —We could simply register these two facts as the meaning of any given speech—utterance and neatly separate hour study from all other domains of knowledge

के रूप मे ही ग्रहण करते है ।[1] भारतीय काव्यशास्त्री भी वक्ता, श्रोता की बाह्य परिस्थितियों का का भी प्रकरण के अन्तर्गत ग्रहण करते हैं। देश, काल, चेष्टा अन्य सन्निधि आदि ऐसी ही परिस्थितियाँ हैं जो बाह्य ही मानी जायँगी। परन्तु इसमे भी कोई सन्देह नही कि प्रो० टिचनर' का मत भी अधिकाश मे सत्य है। ये हो बाह्य परिस्थितियाँ वक्ता और श्रोता की मानसिक प्रक्रिया को प्रभावित करती हैं और प्रभावित मानसिक प्रक्रिया ही व्यग्यार्थ का कारण बनती है। रिचडस तथा आग्डन भी प्रकरण को मानसिक ही मानते हैं, "कोई वस्तु, किसी भाव को प्रतिपादित करती है, इसका अभिप्राय यह है कि वह किसी विशेष प्रकार के मनोवैज्ञानिक प्रकरणो मे से एक है।"[2] वस्तुत प्रकरण मे वक्ता और श्रोता की बाह्य परिस्थितियाँ एवं उनकी मानसिक प्रक्रियाओ को सम्मिलित करना समीचीन है। आन्तर एव बाह्य दोनो ही स्थितियाँ एक दूसरे से ऐसी जुडी हैं कि एकान्तिक रूप से अलग करके नही देखी जा सकती। मम्मट ने प्रकरण वैशिष्टय' का उल्लेख आर्थी व्यजना क प्रसग मे ही किया है। शाब्दी के प्रसग म नही। विश्वनाथ ने इसी का अनुकरण किया है। क्या इसका यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि शाब्दी व्यजना म प्रकरण की सहायता क बिना ही व्यग्यार्थ बोध सम्भव है ? इस प्रश्न को काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर ने उठाया है और उसका समाधान भी किया है। उनका कथन है कि 'आर्थी' व्यजना में तो वक्तृवशिष्ट्य ज्ञान की सवथा अपेक्षा है हा, किन्तु शाब्दी म भी कभी कभी इसकी आवश्यकता होती है, उसम उसका सवथा अनुपयोग सिद्ध नहा किया जा सकता है।[3] गोविन्द ठक्कुर का मत समीचीन है। शाब्दी मे भी प्रकरण की महत्ता है, यद्यपि वह आर्थी स अपेक्षाकृत कम है। यहाँ शाब्दीगत प्रकरण के उदाहरण दिए जाते है

अभिधामूला शाब्दी व्यजना और प्रकरण—

अभिधामूला शाब्दी व्यजना म भी प्रकरण का महत्वपूण स्थान है। प्रकरण के बदलने से यहाँ भी अथ मे हेरफेर हो जाता है—यथा—

भयो अपत क कोपयुत कै बौरो यहि काल।
मालिनि आज कहै न क्यो वा रसाल को हाल ॥[4]

यह नायिका की मालिनि-दूती के प्रति उक्ति है। नायिका का मुख्य मन्तव्य नायक का समाचार पूछने से है। दोहे म अपत, कोपयुत, बौरो, रसाल आदि द्वयर्थक शब्दो का प्रयोग है। मालिनि को सम्बोधित करने के कारण आम वृक्ष वाला प्राकरणिक अथ है और नायक वाला अप्राकरणिक। परन्तु प्रकरण के बदलने पर अर्थात् उपयुक्त नायिका के स्थान मे अन्य व्यक्ति को वक्ता कर देने से नायक वाले अप्राकरणिक अथ की प्रतीति न हो सकेगी।

---

1 I understand by contact simply the mental process or complex of processes
Ogden and Richard page 58

2 To say indeed that anything is an interpretation is to say that it is a number of psychological contests of a certain kind
—Meaning of Meaning page 5

३ अर्थव्यञ्जकतायावक्त वशिष्टादीनामावश्यकत्वमात्रम्।
न तु शाब्दव्यञ्जनायां सवथानुपयोग । ध्वनि सम्प्र० सि०, पृ० २८६

४ काव्य निणय, २।४५

लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना और प्रकरण—

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना की भाँति लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में भी प्रकरण का महत्व पूर्ण स्थान है, परन्तु शाब्दी व्यंजना के दोनों भेदों में प्रकरण की वह महत्ता नहीं है जो आर्थी व्यंजना में होता है।

सज्जनता प्रकटित करी कियौ बहुत उपकार।
ऐसो काजु करौ सदा जीवौ वर्ष हजार ॥[1]

यदि यह किसी अपकार करने वाले से कहा जायगा तो इसका बिल्कुल विपरीत अर्थ होगा और यदि उपकारी के प्रति कहा जायेगा तो साधारण जैसा अर्थ है वही मुख्य होगा। इससे स्पष्ट हो गया कि प्रकरण का शाब्दी व्यंजना के व्यंग्य निर्णय में भी प्रमुख स्थान है।

अनेकार्थक शब्दों के प्रसंग में अभिधेय नियामक—

शाब्दी व्यंजना के दो भेद हैं। १ लक्षणामूला और २ अभिधामूला। श्लेष की भाँति अभिधामूला में भी ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है जिनको बदलना सम्भव नहीं है। प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थ में सन्देह होने पर प्रकरण के साथ संयोग आदि नियामक तत्व भी सहायक होते हैं। ये अभिधेय अर्थ के नियामक हैं। अभिधेय की स्मृति ही विशेष स्मृति है। मम्मट ने इनका उल्लेख अभिधा के प्रसंग में तो किया है परन्तु इनके उल्लेख के पश्चात् यह कहा है कि "इस प्रकार अभिधामूला का विवेचन किया"। इससे सभी रीतिकालीन आचार्यों ने इनका उल्लेख व्यंजना के प्रसंग में किया है। इनका विस्तृत विवेचन तृतीय अध्याय में होगा।

आर्थी व्यंजना—

यह शाब्दी व्यंजना के प्रसंग में कहा जा चुका है कि व्यंजना का शब्द से अधिकतर परम्परागत सम्बन्ध होता है। अभिधा इत्यादि की भाँति शब्द से उसका साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता है। इसीलिये कुछ विद्वान् व्यंजना को शब्दशक्ति मानने तक में हिचकते हैं। वे उसे अर्थ शक्ति कहना ही अधिक उपयुक्त समझते हैं।[2] परन्तु जैसा पहिले स्वीकार किया जा चुका है व्यंजना को अन्य शक्तियों की भाँति शब्द शक्ति मानना ही समीचीन है और शाब्दी व्यंजना की सत्ता भी स्वीकार करनी ही पड़ेगी। *यह भी संकेत किया जा चुका है कि शाब्दी व्यंजना का क्षेत्र आर्थी व्यंजना की* अपेक्षा सीमित है। वाच्यार्थ और लक्ष्यार्थ का बोध शब्द से ही होता है परन्तु व्यंग्यार्थ की अभिव्यक्ति कराने के पश्चात् शब्द और अर्थ की वही ही स्थिति हो जाती है जैसी वाक्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् पदार्थ की होती है। काव्य में इस व्यंग्यार्थ की प्रधानता भी होती है और इसी की रमणीयता भी। काव्यकर्ता कवि को ऐसे शब्द और अर्थ की पहिचान में विशेष श्रम करना पड़ता है जो उसके उस प्रधान और रमणीय व्यंग्यार्थ के प्रत्यायक हो सकते हैं, क्योंकि ऐसा कोई ही शब्द अथवा अर्थ होता है जो उस व्यंग्यार्थ की प्रतीति कराने में सफल होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य प्रणेता और काव्य अध्येता दोनों की दृष्टि से व्यंग्यार्थ प्रधान और

---

१ कविकुल कल्पतरु, ५।२।११

२ प्रो० कान्तानाथ तैलंग शास्त्री ना० प्र० पत्रिका, वर्ष ५३ १ २ अंक।

रमणीय होता है।[1] इसीलिये उसको अभिव्यक्त करने वाले शब्द और अर्थ उसकी प्रतीति कराके गौणता प्राप्त कर लेते हैं।[2] शब्द की व्यंजकता का उल्लेख हो चुका यहाँ पर अर्थ की व्यंजकता का विचार करना शेष है। अर्थ तीन प्रकार के होते है—(१) वाच्य, (२) लक्ष्य और (३) व्यंग्य। ये सभी अर्थ-व्यंजक हो सकते हैं।[3] इसलिये आर्थी व्यंजना इन अर्थों की दृष्टि से तीन प्रकार की होती है। (१) जहाँ व्यंग्य की प्रतीति वाच्य से होती है वहाँ वाच्य सम्भवा आर्थी व्यंजना मानी जाती है। (२) जहाँ व्यंग्यार्थ प्रतीति में लक्ष्यार्थ व्यंजक होता है और व्यंग्यार्थ का उस वाच्यार्थ से केवल परम्परा सम्बन्ध रह जाता है वहाँ लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना होती है और (३) जहाँ व्यंग्यार्थ का कोई व्यंग्यार्थ ही व्यंजक है उसे व्यंग्य सम्भवा कहते हैं।

वाच्य सभवा आर्थी व्यंजना—

जहा पर वाक्य मे सर्व प्रथम अभिधा शक्ति से शब्दो के संकेतित अर्थ का बोध होता है, तत्पश्चात् प्रकरणादि की पर्यालोचना से उसी मुख्यार्थ से अन्य अर्थ का बोध होता है, वहाँ वाच्य *सभवा आर्थी व्यंजना मानी जाती है। इसका उदाहरण है—*

अब तक अम्ब नहीं हुआ घर का कोई काज।
अब कह क्या करना मुझे, छिपता है दिनराज॥

इस दोहे से सर्व प्रथम यह अर्थ बोध होता है कि अब तक घर का कोई काम नहीं हुआ है यदि कोई काम करणीय है तो बता दिया जाय क्योंकि सायकाल होने वाला है। परन्तु प्रकरण से जब यह पता चलता है कि कहने वाली पुश्चली है, तो पाठक को इस अर्थ की प्रतीति होती है कि वह सायकाल स्वैर विहार का समय निकालना चाहती है।' यह व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ प्रतीति के बाद उसके द्वारा ही होता है। इसीलिये इस व्यंजना को वाच्य सभवा कहते हैं।

लक्ष्य सभवा आर्थी व्यंजना—

जहा वाक्य में सर्व प्रथम अभिधा शक्ति से मुख्यार्थ की प्रतीति होती है, किन्तु मुख्यार्थ के बाधा के कारण वह अर्थ सगत नही होता, तब मुख्यार्थ के योग से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है, ये प्रयोजनवती लक्षणा के ही स्थल होते हैं इसलिये लक्ष्यार्थ के साथ कोई न कोई प्रयोजन भी अवश्य ही विद्यमान रहता है। लक्षणा मे प्रयोजन सर्वदा व्यंग्य ही होता है। यदि व्यंजना प्रयोजन में ही कृतकृत्य हो जाती है तो लक्षणामूलाशाब्दी मानी जाती है। उसका उल्लेख शाब्दी के प्रसग में हो चुका है। परन्तु जब लक्षणा के लक्ष्यार्थ से किसी अन्य व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तब लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना मानी जाती है। लक्षणामूला शाब्दी मे प्रयोजन व्यंग्य का सबध शब्द से आर्थी के व्यंग्यार्थ की अपेक्षा निकट का होता है। इसलिये उसे शाब्दी और इसे आर्थी माना जाता है। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना और लक्ष्य सम्भवाआर्थी व्यंजना का दूसरे शब्दो मे इस प्रकार कह सकते हैं। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना मे एक प्रयोजन रूप व्यंग्यार्थ होता है। और लक्ष्य सम्भवाआर्थी में प्रयोजन के अतिरिक्त एक व्यंग्य और रहता है। अर्थात् शाब्दी

---

१ ध्वन्यालोक, १ १ १०

२ वही १ २३

३ का० प्र० २ २८

म एक व्यग्यार्थ रहता है और आर्थी मे दो व्यग्यार्थ।' दूसरे व्यग्यार्थ का सम्बन्ध लक्ष्यार्थ से रहता है इसलिये इसे आर्थी मानना ही सगत है।

उदाहरण के लिए—

मोहित मैं चित द फिरी सखी निकुजन माँहि।
भये श्रम श्रम स्वेदकन लह्यो सु प्रीतम नाँहि।।[1]

मुख्यार्थ—हे सखि तू मेरा हित करने के लिये मनोयोग पूवक कुज मे घूमती रही। परिश्रम से यद्यपि तेरे शरीर पर स्वेदकण हो गये परन्तु वह प्रियतम न मिल सका।

जब प्रकरण का पता चलता है कि नायिका ने दूती को नायक के पास भेजा था, परन्तु वह स्वय उससे उपभुक्त होकर लौटी है। शरीर पर नख क्षत आदि हैं, निकुजो में घूमने की खरोंचें नहो हैं और रतिक्रीडा के कारण स्वेद कण हैं घूमने के परिश्रम के कारण नही हैं तो 'मोहित और 'चित द फिरी आदि का मुख्यार्थ सगत नही होता, और विपरीत लक्षणा से निम्न लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है —

लक्ष्यार्थ—तूने मनोयोग पूवक मेरा काय नही किया है। ये स्वेद-कण भी परिश्रम के नही हैं। प्रियतम के न मिलने की भी बात मिथ्या है।

प्रयोजन—तूने मुझसे शत्रुता की है। इसे मैं कभी भुला नही सकती।

द्वितीय व्यग्यार्थ—तुम दोनो ने मेरे प्रति अपराध किया है तुम दोनों का गुप्त प्रेम भी प्रगट हो गया है।

व्यग्य-सम्भवा आर्थी—

कभी कभी काव्य म इस प्रकार के प्रसग आते हैं कि मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ की प्रतीति के पश्चात् प्रकरण इत्यादि की सहायता से एक व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। तत्पश्चात् इस व्यग्यार्थ से पुन अन्य व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है। जहा ऐसा अवसर उपस्थित होता है। वहा व्यग्य सम्भवा आर्थी व्यजना मानी जाती है। वाच्य-सभवा में वाच्यार्थ व्यग्यार्थ का व्यजक होता है। लक्ष्य सम्भवा म लक्ष्यार्थ और व्यग्य सम्भवा में प्रथम व्यग्यार्थ द्वितीय व्यग्यार्थ का व्यजक होता है, व्यग्य सम्भवा आर्थी-व्यजना वाच्य सम्भवा पर भी आधृत हो सकती है और लक्ष्य सम्भवा पर भी, परन्तु वाच्य सम्भवा व्यग्य की व्यजकता के अवसर अधिक मिलते हैं।

उदाहरण—

स्वस्थ अचल पुरइनि पर बक ठहरातु।
जनु पन्ना भाजन पर दर बरसातु।।[2]

नायक और नायिका एकात रम्यस्थली मे घूम रहे हैं। नायिका नायक से कहती है—

मुख्यार्थ—देखिये, कमल पत्र पर बगुला कितना निश्चित और निश्चल बठा है, ऐसा प्रतीत होता है, मानो पन्ना के पात्र पर शख रखा है।

प्रथम व्यग्यार्थ—दिखलाई पडने वाला बगुला कितना विश्वस्त और भय रहित है।

---

१ सभा प्रकाश, ६।५८

१ साहित्य सुधा निधि, २।५१

द्वितीय व्यंग्यार्थ—यह स्थल इतना एकान्त है कि पत्ता भी नहीं खड़कता और बगुला आदि पक्षी भी निश्चिन्त और निर्भय रह रहे हैं, यह सहेट का सुन्दर स्थल है। तुम यहाँ नहीं आये, यदि आये होते तो बगुला आदि इतने निर्भय न होते। तुमने वचन भंग कर मुझे कष्ट दिया है और अपराध भी किया है।

इस उदाहरण में स्वस्थ और अचल शब्दों से निर्भयता और निर्जनता आदि का बोध होता है। प्रथम व्यंग्यार्थ वाच्य-सम्भव है और द्वितीय व्यंग्यार्थ व्यंग्य सम्भव।

दूसरा उदाहरण—

सबै कहैं करतार को जग में बहुत प्रवीन।
यह रचना ताकी लखी राहु बधू कुच कीन॥[1]

यह कवि की उक्ति है। राहु के हाथ नहीं है।

मुख्यार्थ—संसार में विधाता को सभी बुद्धिमान कहते हैं। उसकी यह रचना कि राहु की पत्नी के कुच किये, भली भाँति देख ली।

लक्ष्यार्थ—विधाता की सृष्टि समझ-बूझ के साथ नहीं हुई है। वह बड़ा मूर्ख है। विधाता का मूर्खताधिक्य प्रयोजन है।

प्रथम व्यंग्यार्थ—मूर्ख की सभी रचनायें बेढंगी और उल्टी होती है।

द्वितीय व्यंग्यार्थ—यह व्यंग्यार्थ प्रकरण के अनुसार अथवा वक्ता की स्थिति के अनुसार बदलता रहेगा। यदि वक्ता किसी राजा से पीड़ित दरबारी है तो यह राजा होने योग्य नहीं था आदि। व्यंग्यार्थ लक्ष्य-सम्भव व्यंग्यार्थ से प्रतीत होता है। यह उदाहरण लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यंजना का माना जाना चाहिए अथवा व्यंग्य सम्भवा का, इसका निश्चय करना भी आवश्यक है। लक्ष्य-सम्भवा आर्थी व्यंजना में प्रयोजन के अतिरिक्त एक व्यंग्यार्थ और निकलता है अर्थात् उसमें प्रयोजन को मिला कर दो व्यंग्यार्थ होते हैं और लक्ष्य सभवा पर आधृत में प्रयोजन को मिलाकर तीन व्यंग्यार्थ होते हैं। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना में वक्ता अथवा कवि का अभिप्राय प्रयोजन-गत होता है, लक्ष्य-सभवा में द्वितीय व्यंग्यार्थ-गत और लक्ष्य सभवा संबद्ध व्यंग्य-सभवा में तृतीय व्यंग्यार्थ गत।

आर्थी व्यंजना और प्रकरण—

यह पहले देखा जा चुका है कि शाब्दी व्यंजना में प्रकरण बोध की आवश्यकता है, परन्तु शाब्दी की अपेक्षा आर्थी में प्रकरण-बोध की विशेष आवश्यकता है। शाब्दी में और आर्थी में यह एक विशेष भेद है। जहाँ कहीं वाक्य में दो एक परिवृत्यसह शब्द के होते हुए भी व्यंग्यार्थ प्रतीति में प्रकरण का विशेष महत्व हो तो उसे आर्थी व्यंजना का ही उदाहरण माना जायगा, शाब्दी का नहीं। यदि कह दिया जाय कि आर्थी प्रकरण में ही व्यंग्यार्थ का नियामक तत्व है तो अनुचित न होगा। यही कारण है कि मम्मटादि आचार्यों ने शाब्दी के प्रसंग में प्रकरण का उल्लेख न करके आर्थी के प्रसंग में ही किया है।

अर्थ-व्यंजकता के हेतु—

यह स्पष्ट हो चुका कि आर्थी व्यंजना में व्यंग्यार्थ की प्रतीति के हेतु प्रकरणादि हैं। प्रकरण

---

१ सभा प्रकाश, ६-६४।

म निम्नलिखित का ग्रहण होता है—१ वक्ता, २, बोद्धव्य ३ काकु, ४ वाक्य, ५ वाच्य, ६ अ्यसन्निधि, ७ प्रस्ताव, ८ देश, ९ काल १० चेष्टा आदि।[1] इन वक्तादि को विशिष्टता के कारण ही प्रतिभाशाली व्यक्तियो को व्यग्याथ की प्रतीति होती है। इन अर्थ की व्यजकता के विभिन हेतुओ के उदाहरण आगे दिये जायग।

प्रतिभा भी व्यग्याथ बोध का हेतु—

काव्य प्रकाशकार ने स्वीकार किया है व्यग्याथ की प्रतीति वक्तादि को विशिष्टता से प्रभाव शाली व्यक्तियो को ही होती है। तात्पय यह है कि वक्तादि की भाँति 'प्रतिभा' भी अथ-व्यजकता का हेतु होती है। यह प्रतिभा पाठक और कवि भेद से दो प्रकार की है। कविगत प्रतिभा को कारयित्री नाम दिया जाता है और पाठक-गत प्रतिभा को भावयित्री अथवा ग्राहयित्री। कविगत प्रतिभा को लोचनकार ने अपूव वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा स्वीकार किया है। वस्तुत यही प्रतिभा अनुभूत प्रसगो को अपूव रूप म रखती है। इसी के कारण काव्य कर्ता महाकवि की पदवी प्राप्त करता है। महाकवि की वाणी स्वत स्फुटित होती है और ऐसे काव्य की रचना करती है जिससे दिव्य आनन्द की स्वत वर्षा होती रहती है। जिस प्रकार दुधारू गाय अपने बछड़े की तष्णा शात करने के लिये स्तन से बछड़े का मुख लगते ही स्वत ही दूध देने लगती है उसी प्रकार कवि-वाणी स्वत ही पाठक को आनन्द रस प्रदान करती है। ध्वन्यालोककार ने कविगत प्रतिभा का उल्लेख करते हुये उसके लिए 'निष्यन्दमाना' विशेषण का प्रयोग किया है।[2] इस 'निष्यन्दमाना' पद की व्याख्या म लोचनकार ने दिव्य आनन्द रस को स्वय प्रस्तुत करनी है, लिखा है।[3] कारयित्री प्रतिभा क अभाव म कवि की वाणी पाठक को अविरल आनन्द धारा मे मग्न नही कर सकती है। यही कारण है कि कालिदास आदि दो चार महाकवि ही हुये हैं। जिस प्रकार कवि के लिये कारयित्री प्रतिभा की महत्ती आवश्यकता है उसी प्रकार भावक के लिये भी भावयित्री प्रतिभा की। इसी से सम्पन्न पाठक को मम्मट ने अपनी कारिका मे प्रतिभा जुषाम्=प्रतिभा सम्पन्न से ही अभिहित किया है। वाच्याथ का ज्ञान तो शब्द और अथ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्तियो को भी हो सकता है दाशनिक ग्रन्थो की सगति पाडित्य से लग सकती है परन्तु काव्य का आनन्द बिना प्रतिभा के नही मिल पाता है। इस भावयित्री प्रतिभा से सम्पन्न काव्य परिशीलको को सहृदय नाम दिया जाता है। सहृदय का स्वरूपोल्लेख करते हुये लोचनकार ने लिखा है 'जिन व्यक्तियों का मनोमुकुर काव्य के अनुशीलन तथा अभ्यास के कारण निमल हो गया है, जिन व्यक्तियों मे काव्य के वणय विषय मे तन्मय होने की योग्यता है, एव जिनमे अपने हृदय मे हृदय से सवाद प्राप्त करन की क्षमता है वे ही सहृदय हैं।[4] वही अथ हृदय-सवादी माना जाता है जिसमे सहृदय क हृदय को तन्मय करने की शक्ति होती

---

१ वक्तृ बोद्धव्यकाकूना वाक्यवाच्यान्य सन्निधे।
प्रस्तावदेशकालादेव शिष्ट्या प्रतिभाजुषाम्॥
योऽथस्यान्याथधीहेतु व्यापारो व्यक्तिरेव सा। —का० प्र० ३-२१-२२।

२ प्रतिभा अपूव वस्तु निर्माणक्षमा प्रज्ञा। —लोचन, पृ० ३४

३ ध्वन्यालोक, १—६

४ निष्यन्दमानेति दिव्यमानन्द रस स्वयमेव प्रस्नुवानेत्यथ —लोचन, पृ० ३३

है और जिसकी चर्वणा से उसका प्रभाव सम्पूर्ण शरीर मे इस प्रकार व्याप्त हो जाता है जिस तरह सूखे काष्ट मे अग्नि व्याप्त हो जाती है। रोमांचादि अनुभव इसी चर्वणा का फल होते हैं।[२] कवियों और पाठको को प्रतिभा की प्राप्ती अभ्यास आदि के कारण नही होती है। इसलिए प्रतिभा को पूर्वजन्म का सस्कार माना जाता है। कविगत और पाठकगत प्रतिभा अर्थ की व्यजकता का आन्तरिक हेतु है और वक्त्रादि बाह्य।

१ वक्तृ वैशिष्ट्य—काव्य परिशीलन से प्रथम तो उसके मुख्यार्थ का बोध होता है, पुन उस वक्ता के स्वभाव आदि का। तत्पश्चात् काव्य के मुख्यार्थ से वक्ता के स्वभाव, उसके श्रोता सम्बन्ध आदि की सगति बिठाने का प्रयत्न होता है। इस प्रयत्न म व्यग्यार्थ की प्रतीति होती है, यथा —

ग्रीषम में दापी कूप सरवर सूखे सब,
जल नदी झिरना तें आवतु नगर में।
जहाँ जात आवत लगत काँट झारन के,
हौं न जहौं हौं ही पानी पीवति हौं घर में॥
अति दूर ही ते भरी गागरि ले आवति हौं,
छूटत पसीना स्वप अग थर थर मे।
कहति हौं पुनि सासु ननद झुक न मोप,
जाऊँगी तो आऊँगी भोर दुपहर में॥

पाठक को सब प्रथम इस छन्द के मुख्यार्थ का ज्ञान होता है। मुख्यार्थ सरल एव साधारण है। कहने वाली स्त्री अपनी पडोसिन से कह रही है। दूसर क्षण म जब यह ज्ञान होता है कि कहने वाली व्यभिचारिणी है यो एक विशेष अर्थ भा प्रतीत होती है कि वह दुपहर के समय पानी लेन के बहाने नदी-तट पर अपने उपपति से मिलने के लिए जाना चाहती है और कांटो की खरोचो से होने वाले नखक्षत तथा दन्तक्षता को और परिश्रम-स्वेद स भावी रतिजन्य स्वेद को छिपाना चाहती है। यही कहने वाली का मुख्य अभिप्राय है। कहने वाली के आचरण और स्वभाव से अपरिचित रहने पर इस व्यग्यार्थ की प्रतीति न हो सकेगी।

२ बोद्धव्यवैशिष्ट्य—जिसस बात कही जाती है उसे बोद्धव्य कहते हैं। जिस प्रकार वक्ता का स्वभाव और श्रोतृ-सम्बन्ध व्यग्यार्थ की प्रतीति में साधन का काम करता है उसी प्रकार बोद्धव्य स्वभाव और व्यवहार भी। इसीलिये यहाँ बोद्धव्य वैशिष्ट्य के कारण व्यग्यार्थ की प्रतीति स्वीकार करते हैं। इसका उदाहरण यह है —

---

१ येषा काव्यानुशीलनाभ्यासवशाद् विशदीभूते मनोमुकुरे वर्णनीय तन्मयी भवन योग्यता ते स्वहृदय सवादभाज सहृदया। यथोक्तम्—
योऽर्थो हृदय सवादी तस्य भावो रसोद्भव।
शरीर व्याप्ते तेन शुष्क काष्ठमिवाग्निना॥ लोचन, पृ० १३

२ वही,

३ कवि, कुल-कल्पतरु, ५।२४

दूबरी भर्या है देह नींद सों तजो सनेह
हिय भो विरह गहे चिन्ता अधिकात है।
'श्रीपति" सुजान भनि जनन अनेकन सों
बासर बिहात सो प रात न विहाति है ॥
हरिये कराहि क मुकहिये परोसिन सों,
सहिये परम दु'ख कहूना बिसाति है।
हों हो मदभागिनी हों बडरों अभाग जागो,
मेरो दुख देखि आली अति बिलखाति है ॥

नायिका की दूती नायक के पास आती जाती है। क्लाक्रमानुसार उसके हृदय म भी नायक के प्रति अनुराग क अकुर जम गये हैं, कामोपभोग की इच्छा का भी उदय हो गया है अत दूती की वही स्थिति हा रही है जो प्रेम के उदय से होती है। नायिका को इसका पता लगाने पर दूती से कहती है। मुख्याथ के ज्ञान होने के पश्चात् जब इस प्रकरण का पता चलता है तो नायिका के इस साधारण लगने वाले कथन से तीव्र एव तीक्ष्ण उपालम्भ-रूप, व्यग्याथ की प्रतीति होती है। दूती की नायिका के प्रति सापराधता जान पड़ती है।

३ काकु वैशिष्टय से—जहाँ काव्य म गल के स्वर भद स पाठ करने पर ही अन्य अथ की प्रतीति होने लगती है वहाँ काकु-वशिष्टय व्यग्य माना जाता है। काकु वशिष्टय से प्रतीत होने वाला व्यग्य कही प्रधान और चमत्कार मुक्त होने से ध्वनि-काव्य भी होता है और कही अप्रधान तथा वाच्याथ का उपस्कारक होने के कारण गुणीभूत व्यग्य। जहाँ वाक्याथ की पूर्ण विश्रान्ति के द्वारा प्रश्न किया जाता है और उसका उत्तर वाच्याथ से नितान्त भिन्न रहता है और वाच्याथ व्यग्य का उपस्कारक हो जाता है वहा ध्वनि-काव्य माना जाता है।[२] वह व्यग्यार्थ प्रधान रहता है। यथा —

दुवन दुसासन महीपत सभा में गह्यो,
द्रुपद सुता को घोर जग हाहा खात भो।
व्याघन के साथ कस्यो जग में निवास भयो,
कदमूल असन वसन तरुपात भो।
श्रीपति भनत जाइ रहे हैं विराट गेह
जिहि दिन दिन अनुचित अधिकात भो।
तापर तक्त मया करिके सुजोधन प,
धरम सम्प राजा मों पर रिसात भो ॥[३]

काव्य प्रकाश में काकु-व्यग्य ध्वनि का जो उदाहरण दिया गया है वह वणी सहार नाटक म सहदेव के प्रति भीमसेन की उक्ति का है। काव्य-सरोजकार श्रीपति ने उसी उदाहरण का

१ काव्य-सरोज, ३-८८
२ प्रश्नमात्रेणापि काका विश्रान्ते।—का० प्रकाश, पृ०
३ काव्यसरोज, ३ ८६

यह हिन्दी रूपान्तर प्रस्तुत किया है। 'सहदेव से भीमसेन ने कहा कि श्रीकृष्ण जिस सन्धि को करने गये हैं उसको मैं नहीं करने दूंगा, तो सहदेव ने अनुनय करते हुए कहा, आप ऐसा न कहें अन्यथा बड़े भाई युधिष्ठिर अप्रसन्न होंगे।' उस समय भीम ने कहा,' क्या बड़े भाई क्रोध करना भी जानते हैं? उसके बाद उन्होंने दुर्योधन द्वारा किये गये उपकारों का स्मरण कराके काकु से कहा कि इतने अपकारी दुर्योधन पर तो वह आज भी कृपा दृष्टि से देखते हैं और मुझ पर क्रोध करेंगे।' पूज्य बड़े भाई का दुर्योधन के प्रति क्रोध करना उचित था वहां तो वे कृपा दृष्टि करते हैं और जिस पर कृपा-दृष्टि रखनी थी, उस पर क्रोध करते हैं। यह उनका व्यवहार अनुचित है। व्यंग्य वाच्यार्थ से स्वतन्त्र है और उसकी प्रतीति काकु से होती है।

४ वाक्य-वैशिष्ट्य से—जब छन्द में प्रयुक्त वाक्य से ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है तो उसे वाक्य वैशिष्ट्या आर्थी कहते हैं। यथा —

इकटक दृग दै स्वच्छ छवि निरखत है मो हार।
वही हार वाही समैं लखत न कहा विचार॥[1]

नायिका के हार में उसकी सखी का प्रतिबिम्ब पड़ रहा था जिसे नायक टकटकी लगाकर देख रहा था। उसके अन्यत्र चले जाने पर उसने जब दृष्टि हटाली तब नायिका ने उससे यह कहा। यहाँ पर व्यंग्यार्थ की प्रतीति इसी वाक्य के सहारे होती है। इससे यह प्रतीत होता है कि नायक उस सखी पर आसक्त है।

५ वाच्य वैशिष्ट्य से—काव्य में कभी कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाच्य की विशिष्टता से होती है। अर्थात् प्रयुक्त शब्दावली का मुख्यार्थ ऐसा निकलता है जो अपनी विशेषता से व्यंग्य की ओर संकेत करता है। वाक्य वैशिष्ट्य में व्यंग्यार्थ की प्रतीति वाक्य के गठन से होती है और वाच्य वैशिष्ट्य में मुख्यार्थ की सहायता से। दोनों में बहुत सूक्ष्म अन्तर है। हिन्दी के रीतिकालीन ध्वनिवादी आचार्यों ने प्रायः वाक्य वैशिष्ट्य के संस्कृत-ग्रन्थों में दिये गये उदाहरणों के अनुवाद भर कर दिये हैं और वाच्य-वैशिष्ट्य के स्वतन्त्र उदाहरणों की रचना का प्रयत्न भी यत्र-तत्र परिलक्षित होता है। यथा —

भौन अँध्यार हूँ चाहि अँध्यारो चँबेली के पुंज के पुंज बने हैं।
बोलत मोर करैं पिक सोर जहाँ तहाँ गुंजत भौंर घने हैं॥
दास रच्यो अपने ही बिलास को मैन जू हाथनि सों अपने है।
कूल कलिंदजा के सुख मूल लतानि के वृन्द बितान तने हैं॥[2]

नायिका नायक से अथवा नायक नायिका से यमुना-तटवर्तिनी किसी एकान्त रम्य स्थली का वर्णन कर रहा है। इस छन्द के मुख्यार्थ से ही वक्ता की विहार की इच्छा व्यंग्य है। वाच्य वैशिष्ट्य के उदाहरणों में रम्य स्थली, वर्षा और वसंत आदि का ही प्रायः वर्णन मिलता है।

६ अन्य सन्निधि वैशिष्ट्य से—कभी कभी काव्य में वक्ता और बोद्धव्य के बीच में ऐसा व्यक्ति खड़ा कर दिया जाता है जिसकी उपस्थिति में वक्ता बोद्धव्य को अभीष्ट प्रसंग का

---

१ सभा प्रकाश, ६ ६०

२ काव्य, निर्णय, २—५७

उल्लेख मुख्यार्थ द्वारा न कराके व्यग्याथ द्वारा कराना ही उचित समझना है। व्यग्याथ की प्रतीति में इसी व्यक्ति की सन्निधि प्रथवा सामीप्य साधन का काम करता है। प्रतएव इसको प्रन्यसन्निधि की विशिष्टता स्वीकार किया जाता है। यथा—

नाहु नेह सायो सरस नकुन प्यारो होइ।
छूटनि पैये प्रात छिन रहे नींद बस भोइ॥[1]

कोई व्यभिचारिणी अपनी सखी अथवा पडोसिन के निकट खडी बात-चीत कर रही है। इतनी देर मे जार वहा आकर ठिठकने लगा है। उसके ठिठकने का अभिप्राय व्यभिचारिणी से यह जानने के लिये है कि वह किस समय मिलेगी। सहेट पहले से ही निश्चित है। फलत नायिका पडोसिन से उपयुक्त पत्तियाँ कहती है। इन पत्तियो से पडोसिन को यह बताती है कि उसे पति से एक मिनट को छुटकारा नहा मिलता है। केवल छुटकारा नित्य प्रति के काय करन के लिए प्रात काल ही मिलता है। परन्तु नायक को यह समझा दिया कि मैं केवल प्रात काल ही मिल सकती हू।

७ प्रस्ताव वशिष्टय से—कभी-कभी वक्ता ऐसा प्रसग प्रथवा प्रस्ताव चला देता है कि उससे विशेष व्यग्याथ की प्रतीति होन लगती है। यथा —

घोर घटा उनई चहुँघा छिन एक मैं बोजु छटा छबि छाइ है।
श्रीपति राइ कहा करिबो मरिबो करिके पुन चातक गाइ है॥
कारो पिछौरो उतारिहहा प्रब चूनरी लाल प्रनूप सुहाइ है।
हो जो सुनौं धरी चारिक मैं सखि प्राजु तिहारो पिया घर प्राइ है।[2]

कृष्णाभिसारिका ने उपपति से मिलने के लिए पूरी तैयारी कर ली है। उसने काली पिछौरी भी ओढ ली है। इतन म ही सखी को उसके पति के आगमन का स्मरण आता है। वह उसी का स्मरण दिलाकर उसको उपपति के पास जाने से रोकना चाहती है। तू अपने पति स मिलने के लिए उचित शृङ्गार कर उपपति के समीप मत जा यह व्यग्य है। इस व्यग्य की प्रतीति प्रस्ताव की विशेषता के कारण ही होती है।

८ देश वशिष्टय से—कभी-कभी व्यग्याथ की प्रतीति देश-वणन के ज्ञान से भी हो जाती है। यथा :—

सासुरे को चली बाहिरो बाग बिलकति हो प्रखियाँ भरि प्राई।
जानत हो सुजनो जियकी तिन कान मे प्राइ तहीं समुझाई।
देखें बिना पहिले ही भली रति खेल की ठाहर को पछिताई।
जात जहा हो तहां पुनि सुन्दर मंदिर सूने घनी प्रमराई॥[3]

कोई व्यभिचारिणी जब ससुराल को चलने लगी ता अपने सहेट-स्थल को देखकर उन्हें छोडने का उसे दुख हुआ। अतरग सखी उसके दुख का कारण समझ गई और उसे आश्वासन

---

१ रस रहस्य, २।३७

२ काव्य-सरोज ३—६३

३ सुदर शृङ्गार का छद सभाप्रकाश ६।७२

देती हुई बोली कि ससुराल में बहुत से सूने मंदिर और घनी अमराइयां हैं। इससे व्यंग्य यह है कि जिस प्रकार तुम यहाँ बेखटक जार से मिलती रहीं वहां भी उसी प्रकार मिलती रहोगी। चिन्ता मत करो। यहाँ 'सूने मन्दिर और घनी अमराई देश की विशेषता से व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है।

९ काल वशिष्ट्य से—कभी कभी व्यंग्यार्थ की प्रतीति काल-वर्णन से भी होती है। यथा—

किया सब जग काम बस जीते जिते अजेय।
कुसुम सरहिं सर धनुष कर अगहन गहन न देय॥[1]

यदि इसे मानिनी नायिका के प्रति सखी का वचन माना जाय तो यह व्यंग्यार्थ होगा कि आज तू मेरे कहने से नहीं मानती परन्तु अगहन के आते ही मान छोड़कर पति से मिलेगी। अगहन महीना तेरा मान तोड़ देगा। यह व्यंग्यार्थ अगहन महीने की विशेषता के कारण निकलता है।

१० चेष्टा वशिष्ट्य से—अर्थ की व्यंजकता के जितने बाह्य साधन हैं उनमें चेष्टा भी एक है। जिस प्रकार व्यंग्यार्थ प्रतीति में अन्य तत्वों से सहायता मिलती है उसी प्रकार चेष्टा से भी। चेष्टा की भाव व्यंजकता के सम्बन्ध में भारत में विशेष विचार हुआ है। प्राचीन साहित्य शास्त्रियों ने चेष्टा से भी भाव व्यंजकता स्वीकार की है। वस्तुतः चेष्टा का भाव-व्यंजकता में विशेष हाथ रहता है। यथा—

हौं बछरान चराइबे कों निकस्यो जित हो वृषभान को द्वारो।
जघ मिलाइ लई भुज मेलि सकोचि तक अरु बन बिसारो॥
श्रीपति जू भनि नैन नचाइ कै तीछ चलाइ कटाछ कटारो।
सीस तैं खैंचि लियो पट घूँघट कै मुख चन्द रख्यो न उज्यारो॥[2]

नायिका ने उपपति के सम्मुख आने पर अपनी उपर्युक्त अनेक चेष्टाओं से कामोपभोग की आकांक्षा व्यक्त की। चतुर नायक जो नायिका की इन चेष्टाओं का भाव समझता है अपने अन्तरंग मित्र से कह रहा है कि जब बछड़े चराने के लिए नायिका के द्वार से निकला तो उसने अपनी विशेष चेष्टाओं से घर आने का संकेत किया। उसने अपनी दोनों जंघाओं को फैलाकर मिला दिया और उसने स्पष्टक नाम आलिंगन का भाव प्रकट किया। तदनन्तर उसने अपने घूँघट को खींचकर यह सलाह दी कि छिपकर मेरे पास आना। चंचल नेत्रों के नचाने का यह तात्पर्य है कि आने का समय सन्ध्या होना चाहिए। उसने मुख को बन्द करके यह संकेत किया कि मनुष्यों का कोलाहल बन्द होने पर आना। ये व्यंग्यार्थ नायिका की चेष्टाओं से सहृदय को प्रतीत होते हैं।

व्यंग्यार्थ और उसके भेद—

यहाँ तक व्यंजना के दोनों भेदों—शाब्दी और आर्थी का सप्रपंच उल्लेख हो चुका। यहाँ पर व्यंग्यार्थ का विचार भी आवश्यक है। व्यंग्यार्थ तीन प्रकार का माना जाता है—१ वस्तु-

१ बिहारी रत्नाकर, ४६५

२ काव्य सरोज, ३६७।

रूप, २ अलंकार रूप और ३ रस अथवा भाव रूप। जहाँ वस्तु अर्थात् केवल अर्थ की व्यंजना होती है। वहाँ वस्तु व्यंग्य मानी जाती है। जहाँ अलंकार की व्यंजना होती है वहाँ अलंकार व्यंग्य स्वीकार किया जाता है, जहाँ रस अथवा भाव की व्यंजना होती है वहाँ रस अथवा भाव व्यंग्य स्वीकार किया जाता है। व्यंग्यार्थ के क्रम का उल्लेख पहले हो चुका है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त है कि व्यंग्यार्थ की प्रतीति सर्वदा मुख्यार्थ अथवा वाच्यार्थ के बाद ही होगी। वाच्यार्थ ही लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ का आधार है। व्यंग्यार्थ के ये तीनों रूप सदा व्यंग्य ही होते हैं, सो बात नहीं। इनमें से प्रथम दो भेद अर्थात वस्तु-रूप और अलंकार रूप वाच्य भी हो सकते हैं और व्यंग्य भी। स्वाभावोक्ति में बालक आदि का वस्तु-वर्णन वाच्य रूप में हो सकता है।[1] उपमादि अलंकारों में अलंकार भी वाच्य ही होते हैं। परन्तु रस भाव सदा व्यंग्य ही होते हैं। ये कभी और किसी स्थिति में वाच्य नहीं होते हैं। बात यह है कि रस और भाव चित्तवृत्ति स्वरूप होते हैं और चित्त वृत्ति कभी भी वाच्य नहीं हो सकती है।

शाब्दी व्यंजना और त्रिविध व्यंग्यार्थ—

ऊपर व्यंग्यार्थ के तीन भेद किये गये हैं—१ वस्तु रूप, २ अलंकार रूप और ३ रस भाव रूप। इनमें से प्रथम दो अर्थात् वस्तु रूप और अलंकार रूप शाब्दी व्यंजना से भी ध्वनित होते हैं, परन्तु रस भाव रूप व्यंग्यार्थ शाब्दी व्यंजना से ध्वनित नहीं होता है। रस और भाव की तन्मयकारी अभिव्यक्ति केवल आर्थी व्यंजना से ही सम्भव है। यही कारण है कि ध्वन्यालोककार ने यमक और श्लेष जैसे शब्दालंकारों को रस-परिपाक में बाधक स्वीकार किया है, काव्य में जहाँ शृंगार रस का अङ्गी रूप में चित्रण हो रहा है वहाँ यदि कवि प्रयत्नपूर्वक एक रूप अनुप्रास का निबन्धन करने लग जाय तो वह अनुप्रास रस का व्यंजक नहीं होता है। अनुप्रास में एकरूपता लाने का यत्न करने पर अनुप्रास ही मुख्य हो जाता है और रस भाव परिपाक गौण।[2]

> जिय कबहुँ न जाँचिय जाँचिय जो जिय जाँचिय जानकी जानहि रे।
> जेहि जाँचत जाँचकता जरि जाइ जो जारति जोर जहाँनहि रे॥

इन पंक्तियों में अनुप्रास की एकरूपता का निबन्धन है यहाँ अनुप्रास ही मुख्य हो गया है। कवि प्रतिभावान् है, उसकी वाणी तन्मयकारी रस परिपाक करने में भी समर्थ है और यमक आदि शब्दालंकारों का निर्वाह करने में सक्षम। परन्तु शृङ्गार रस में और विशेषकर विप्रलम्भ शृङ्गार में कवि यदि अपनी उपयुक्त प्रतिभा का प्रयोग करता है—रसों में शृङ्गार का यहाँ पर उपलक्षणात्मक प्रयोग है, और यमक और श्लेष आदि का निबन्धन करता है तो यह उसका प्रमाद है।[3] तात्पर्य यह है कि शब्दाडंबर रस-परिपाक में बाधक होता है। शाब्दी व्यंजना के लक्षणामूला

---

१ स्वभावोक्ति रसो चारु यथा वद्वस्तु वर्णनम्, —साहित्य-दर्पण।

२ शृंगारस्याङ्गिनो यत्नादेक रूपानुबन्धवान्।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रास प्रकाशक॥—ध्व० लो०, २ १४।

३ ध्वन्यात्मभूते शृंगारे यमकादि निबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्व विप्रलम्भे विशेषत॥
—ध्वन्यालोक, २ १५

भेद म वस्तु रुप की ही व्यजना होती है। इसका विशेष उल्लेख "अगूढ़" नामक गुणीभूत-व्यग्य के अवसर पर आगे किया जायगा। यही कारण है कि आधुनिक हिन्दी काव्य मे जहाँ लाक्षणिक प्रयोग सानुबन्ध चलते हैं, रस-परिपाक नही हो पाता है। रस-परिपाक के अभाव में ही कविता की ओर से जनता की रुचि हटती जारही है। जनता की रुचि जगाने के लिये सशक्त प्रतिभावान् कवियो को लाक्षणिकता के मोह को छोडना होगा। अलकार रूप की व्यजना अभिधामूला शाब्दी में होती है। इसमें वस्तु-व्यजना नही होती है।

आर्थी व्यजना और त्रिविध व्यग्य—

आर्थी व्यंजना मे त्रिविधि व्यग्यार्थ का समावेश रहता है। जसा ऊपर दिखाया जा चुका है रस भाव की व्यजना तो आर्थी व्यजना द्वारा ही हो पाती है।

वस्तु व्यजना और आह्लाद—

वस्तु-व्यजना अविवक्षितवाच्य के दोनों भेदो मे होती है और विवक्षितान्य पर वाच्य म भी होती है। वस्तु-व्यजना मे चमत्कार तो भी रहता है परन्तु अलकार-व्यजना और रस भाव-व्यजना की अपेक्षा कम। वस्तु-व्यजना मे भाव-सस्पर्श भी रहता है। परन्तु बहुत कम। वस्तु-व्यजना में संनिविष्ट भाव उच्च कोटि के सहृदय को भी तन्मय नही कर सकता है। अपूर्व-व्यजना मे सहृदय का बोध-सीमा का विस्तार होता है और यह विस्तार ही उसे आह्लाद प्रदान करता है। यह आह्लाद भावानुभूति से भिन्न होता है। वस्तु व्यजना के कुछ उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं —

वस्तु व्यजना —

१ यह समयो पहै न फिरि कहै बन समुझाइ।
निज हितु मन में समुझि क जीति परन के दाइ ॥[1]

यहा अर्थान्तर सक्रमित अविवक्षित वाच्य का उदाहरण है। दोहे के दूसरे तीसरे चरण में जब कथनीय कह दिया गया तो 'कहे बन समुझाइ' कहना व्यर्थ है। परन्तु इससे उपदेश-वस्तु की व्यजना होती है।

२ कीन्हो भलाई भलो हमसौं, सु कहा कहिये जग में जस लीजो।
जाहिर है घर बाहिर रीति प्रतीति यहै पर स्वारथ छीजो ॥
काज सुधारत ही सबको निशि वासर ऐसे सदा सुख कीजो।
हौं जगदीस सौं माँगौं असीस जु कोटि बरी सकलौं तुम जीजो ॥[2]

यह अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य अविवक्षित वाच्य ध्वनि का उदाहरण है। यह किसी अपकृत की अपकारी के प्रति उक्ति है। इससे घोर निन्दा और सापराधत्व वस्तु व्यग्य है। इसमे क्रोध के झुंझलाहट अथवा खीझ रूप का सस्पर्श भी है।

३ नव जलधर सम ऊनये कूरम राम कुमार।
लखि महि मडल में कियो कचन को आसार ॥[3]

---

१ रस रहस्य, ३।४
२ रसिक रसाल २।२४
३ रस रहस्य, ३।१०४

यह विवक्षितवाच्य ध्वनि मे अलकार से वस्तु व्यग्य का उदाहरण है। आश्रयदाता महाराज रामसिह की दान प्रशसा मे आश्रित की उक्ति है। उपमा अलकार से महाराज की दानमहिमा वस्तु व्यग्य है।

४ सुनि-सुनि प्रीतम आलसी, धूत सूम धनवत।
नवल बाल हिय में हरष बाढ़त जात अनत ॥[1]

यह अथ शक्त्युत्थ स्वत सम्भवी वस्तु से वस्तु के व्यग्य का उदाहरण है। आलसी होने से सदा घर मे रहेगा, सूम और धनवत कहने से दरिद्रता का भय नहीं है एव धूत होने से कामी होगा आदि वस्तु व्यग्य हैं।

अलकार व्यजना—

१ जाकौ कर सब दिसन मैं सोभ लहै द्विजराज।
रहै विष्णुपद मे सुरुचि सुबहादुर महाराज ॥[2]

यह शब्द शक्त्युत्थ अलकार ध्वनि का उदाहरण है। यह अभिधामूला शब्दो का प्रसग है। कवि आश्रयदाता महाराज बहादुर सिह जी की प्रशसा कर रहा है। वही प्राकरणिक अथ है। कर, द्विवराज, विष्णु आदि द्वयथक शब्दों के प्रयोग स सूय का अथ भी निकलता है। महाराज बहादुरसिह और सूय मे उपमेयोपमान भाव होने से उपमालकार व्यग्य है।

२ येही चिरजीवी अमर निधरक फिरौ कहाय।
छिन बिछुर जाकी नहीं पावस आइ सिराय ॥[3]

वर्षा में परदेश गमनमना पति के प्रति प्रियतमा की उक्ति है। जो प्रियतम का क्षण भर भी वियोग सहन कर सकते हैं निश्चय वे अमर हैं। मैं तो आपका क्षण का वियोग भी सहन न कर सकूगी। मेरा प्रेम सर्वोत्कृष्ट है। यह व्यतिरेक अलकार व्यग्य है। यह स्वत सम्भवी वस्तु से अलकार की व्यग्यता का उदाहरण है।

३ सीय स्वरूप लता सी मही तल तौ उलही दुलही रति रानी।
काम महीरुह सो वर राम विलोकत लौं पिय काम कहानी ॥
एक मे एक पर छहरी मुख लावनि की लहरी अधिकानी।
आपुस मे उछल पछलें ज्यों नदी नद सगम को बढ़ि पानी ॥[4]

यह किसी अतरग सखी की सखी के प्रति उक्ति है। 'सीय लतासी मही-तल और 'वर राम महीरुह सो मे उपमा अलकार स्वत सम्भवी है। इससे दृष्टात अलकार व्यग्य है। यह स्वत सम्भवी अलकार स अलकार की व्यग्यता का उदाहरण है।

---

१ काव्य निणय, ६।३३
२ सभा प्रकाश, ७।१८
३ बिहारी रत्नाकर ५६३
४ फते-प्रकाश, २।७५

रस-व्यंजना—

मो प तौ न कहू ह्वै आई।
और निबाहि भली विधि भायप चल्यौ लखन सो भाई॥
पुर, पितु मातु, सकल सुख परिहरि जेहि बन विपत्ति बटाई।
ता सग हौं सुर लोक सोक तजि सक्यो न प्रान पठाई॥
जानत हौं या उर कठोर तें कुलिस कठिनता पाई।
सुमिरि सनेह सुमित्रा सुत को दरकि दरार न जाई॥
तात मरन, तिय हरन, गीध बध भुज दाहिनी गवाई।
तुलसी मैं सब भाँति आपने कुलहि कालिमा लाई॥[1]

इस छन्द में करुण रस का परिपाक है। रस ध्वनि की आत्मा है। रस मे वस्तु और अलकार की अपेक्षा अधिक तन्मयकारिता होती है। जिस कवि की वाणी से रस रूप आनन्द की स्वतः ही वर्षा होती है वही महाकवि है। यह रसानुभूति केवल व्यजना शक्ति से ही सम्भव है। इसकी महत्ता के कारण ही विश्वनाथ ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार किया था।

ध्वनि काव्य का लक्षण—

जिस काव्य मे चमत्कारयुक्त व्यग्यार्थ प्रधानता प्राप्त कर लेता है उसे ध्वनि-काव्य माना जाता है। ध्वनि-काव्य का लक्षण ध्वनिकार ने इन शब्दों म किया है "जहाँ पर शब्द अथवा अर्थ दोनों अपनी आत्मा और अपने अर्थ को गौण बनाकर व्यग्यार्थ की अभिव्यक्ति करते हैं, उस काव्यविशेष को विद्वान् ध्वनि नाम देते हैं।[2] ध्वनि काव्य में स्थित व्यग्यार्थ काव्य के वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान होता है और उसमे अगना लावण्य की भाँति एक विशेष चमत्कार विद्यमान रहता है। ध्वनि काव्य के व्यग्यार्थ में ये दो मुख्य विशेषतायें होती हैं।

ध्वनि काव्य के भेद—

ध्वनिकाव्य के दो मुख्य भेद हैं —(१) अविवक्षितवाच्य ध्वनि और विवक्षितान्य-परवाच्य ध्वनि। इनमें से प्रथम म लक्षणामूला शाब्दी व्यजना और लक्ष्य सम्भवा आर्थी व्यजना का आधार रहता है और दूसरे भेद मे अभिधामूला शाब्दी व्यजना, वाच्य-सम्भवा आर्थी व्यजना और व्यग्य-सम्भवा आर्थी व्यजना का आधार होता है। लक्षणामूला और लक्ष्य सम्भवा व्यजना में लक्षणा शक्ति की स्थिति होने से मुख्य अर्थ म कवि की विवक्षा (कहने की इच्छा) नहीं होती है। इसीलिए उसका नाम अविवक्षित वाच्य रखा गया है। यह पहले बताया जा चुका है कि ध्वनि की दृष्टि से लक्षणा के दो भेद किये गये हैं (१) अजहल्लक्षणा और (२) जहल्लक्षणा। इनमे प्रथम लक्षणा को उपादान लक्षणा और द्वितीय को लक्षण-लक्षणा भी कहते हैं। लक्षणा के इन्हीं दोनों भेदों को आधार मानकर अविवक्षितवाच्य के भेद किय गये हैं —(१) अर्थान्तर सक्रमित और (२) अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य। इनमे अर्थान्तर सक्रमित वाच्य का सम्बन्ध उपादान लक्षणा से है और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का सम्बन्ध लक्षण-लक्षणा से।

लक्षणा के पदगत और वाक्यगत भेद—

कतिपय आचार्य अभिधा की भाँति लक्षणा को भी पदो से सम्बन्धित स्वीकार करते हैं

---

१ गीतावली लकाकाड, ६

२ ध्वनि, १।१३

और कुछ पद और वाक्य दोनो से सम्बन्धित। लक्षणा को पद से सम्बन्धित स्वीकार करने वाले आचार्यों म मम्मट और उनके टीकाकार गोविन्द ठाकुर का नाम उल्लेखनीय है। उसे पद और वाक्य से सम्बन्धित स्वीकार करने वालो में विश्वनाथ ही प्रमुख हैं। उन्होने स्पष्ट लिखा है, 'य सभी लक्षणायें पदगत और वाक्यगत होने के कारण पुन दो-दो प्रकार का होती हैं।'[1] वाक्यगत लक्षणा का निम्नलिखित उदाहरण दिया गया है —

उपकृत बहु तत्र किमुच्यते सुजनता भवता प्रथिता परम्।
विदधदी दृशमेव सदा सखे सुखित भास्व तत शरदा शतम्॥

'आपने हमारे साथ बडा उपकार किया है हम उसका उल्लख कहां तक करें। आपने उच्चकोटि की सज्जनता दिखलाई। ह मित्र आप ऐसा ही करते रहे और सकडो वर्षों तक सुख पूवक रहें।

ऊपर उद्धत छन्द म एक स अधिक लक्षक पद हैं यथा उपकृत सुजनता, सुखित आदि। इसलिये लक्षणा वाक्यगत मानी जानी चाहिए। यह ता विश्वनाथ का अभिप्राय है और तात्पय की भाति उसका सम्बन्ध वाक्य से न होकर केवल पद अथवा पदा से ही है यह अभिप्राय लक्षणा को पदगत मानने वालो का है। इस पर अपना निणय देते हुये डा० भोलाशकर ने लिखा है, हमे विश्वनाथ का मत नही जचता। वस्तुत लक्षणा कवल पदगत होती है। वाक्यगत जैसा भेद मानना समीचीन नही।[1] परन्तु यह प्रश्न इस प्रकार के निणय से सुलभता दिखाई नही पड़ता है। यह पीछे किया जा चुका है कि उपादान लक्षणा अर्थान्तर सक्रमितवाच्य ध्वनि और लक्षण लक्षणा अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य ध्वनि का मूल है। ये दोनो अविवक्षित वाच्य ध्वनि के भेद हैं। ध्वनिकार ने अविवक्षितवाच्य ध्वनि की पद और वाक्य प्रकाशता स्वीकार की है।[2] यदि लक्षणा केवल पदगत होती है तो उस पर आधत अविवक्षितवाच्य ध्वनि भी पदगत ही हानी चाहिए, वह वाक्यगत कस मानी जा सकती है। यहा भी यह प्रकट कर देना आवश्यक है कि अविवक्षितवाच्य ध्वनि की पदवाक्य प्रकाशता के सम्बन्ध म किसी आचाय ने शका नही की है। विश्वनाथ ने कदाचित इसी आधार को लेकर लक्षणा को पदगत और वाक्यगत स्वीकार किया है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि के पदगत और वाच्यगत भेद स्वीकार करने से ध्वनिकार और लोचनकार की भी यही सम्मति जान पडती है। इसलिये लक्षणा के विश्वनाथ द्वारा किये गये पदगत और वाक्यगत भेद समीचीन ही हैं।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि के चार भेद हुए (१) पदगत अर्थान्तर सक्रमति वाच्य, (२) वाक्यगत अर्थान्तर सक्रमितवाक्य, (३) पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (४) वाक्यगत वाच्य।

---

१ पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येक ता अपि द्विधा।
—सा० द०, २-१२

२ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १३२

३ अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्य प्रकाशता। ध्व०, ३-१

४ ध्व, २-२

ध्वनि-काव्य का दूसरा भेद विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि माना गया है। इसके मुख्य दो भेद हैं (१) असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य और (२) संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य का विवेचन चतुर्थ अध्याय में किया जायगा। व्यंजक की दृष्टि से इसके अनन्त भेद हो सकते हैं परन्तु अभिनव गुप्त ने इसके पाँच भाग किये थे (१) वर्णगत, (२) पदगत, (३) वाक्यगत, (४) संघटनागत, और (५) प्रबन्धगत परन्तु मम्मट और विश्वनाथ ने इसके छ भेद किये है (१) वर्णगत, (२) पदगत, (३) पदांशगत, (४) वाक्यगत, (५) रचनागत और (६) प्रबन्धगत।[1] पदांशगत मे कृत तद्धित प्रत्ययो को व्यंजकता सम्मिलित करके छे भेद माने हैं। इस भेद प्रभेद कल्पना म मम्मट की मान्यता को प्रामाणिक माना जा सकता है। इसके पश्चात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के ध्वनिकार ने दो प्रमुख भेद किये हैं, (१) शब्द-शक्तिमूल और (२) अर्थशक्तिमूल। लेकिन वृत्तिभाग मे उन्होंने उभयशक्तिमूल का भी उदाहरण दिया है। इसी के आधार पर बाद के ध्वनिवादी आचार्यों ने संलक्ष्यक्रम व्यंग्य के दो स्थान पर तीन भेद कर दिये हैं, यद्यपि लोचनकार दो ही भेद स्वीकार करते हैं। इस विभाजन प्रक्रिया मे मम्मट का मार्ग ही युक्तियुक्त है। रीतिकालीन आचार्यों ने संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य के तीन भेद ही माने हैं। इनमे से शब्द शक्तिमूल ध्वनि के ध्वनिकार ने दो ही भेद किये हैं। (१) पदगत शब्द शक्तिमूल अलंकार ध्वनि और (२) वाक्यगत शब्दशक्ति मूल अलंकार ध्वनि। मम्मट इत्यादि परवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्ति मूल के वस्तु ध्वनि के आधार पर दो भेद किये हैं। परन्तु शब्दशक्ति-मूल वस्तु ध्वनि के भेद मानना उचित प्रतीत नही होता है। इसका विवेचन आगे इसी अध्याय मे किया जायगा।

शब्दशक्तिमूल ध्वनि का आधार अभिधामूला व्यंजना है। इसमे ऐसे अनेकार्थक शब्दो का प्रयोग होता है जो बदले नही जा सकते हैं। श्लेष मे भी ऐसे अनेकार्थक शब्दों का प्रयोग होता है जो परिवर्तित नही हो सकते है। इसलिए शब्द-शक्तिमूल ध्वनि और श्लेष के क्षेत्रों का निश्चय करना आवश्यक है।

श्लेष—श्लेष अलंकार वही माना जाता है जहाँ दोनो अर्थ प्रस्तुत होते हैं अर्थात प्रकरण-योजना मे दोनों की आकांक्षा रहती है। ये दोनो अर्थ भिन्न भिन्न और समान कोटि के होते हैं जिनमें संयोग इत्यादि के द्वारा अभिधा का नियन्त्रण होने के पश्चात् द्वितीय अभिधा से अन्य अर्थ की प्रतीति होती है। भिन्न अर्थ मान लेने से भिन्न शब्द भी मानने पडे गे क्योंकि जहाँ अर्थ का भेद होता है, 'अर्थ भेदेन शब्द भेद' यह नियम है। कहने का तात्पर्य यह है कि प्रत्येक अर्थ के लिए एक शब्द की आवश्यकता है 'प्रत्यर्थ शब्द निवेश'। इस प्रकार श्लेष में दो भिन्न भिन्न अर्थ होगे वहाँ दो भिन्न शब्दो की कल्पना करनी पड़ेगी। यथा

रक्तस्त्व नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यै प्रियाया गुण
स्त्वामायान्ति शिलीमुखा स्मरधनुर्मुक्ता सखे मामपि।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयो।
सर्व तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोक कृत।

---

१ पदांश वर्ण रचना प्रबन्धेष्वस्फुट क्रम। सा० द०, ४—११
२ ध्व० लो०, २–२१

दो अर्थ दो अभिधायें—

इस छन्द में तुम (अशोक) को शिलीमुख भ्रमर आते हैं और मुझे स्मर धनुष से छूटे शिलीमुख बाण आते हैं। इस प्रकार दो शिलीमुख शब्द मानने पड़ेंगे जिनमें से एक शिलीमुख का अभिधा व्यापार द्वारा भ्रमर अर्थ होगा और दूसरे शिलीमुख शब्द का दूसरे अभिधा व्यापार द्वारा बाण अर्थ। दोनों प्रस्तुत अर्थ एक ही अभिधा द्वारा प्रकट न हो सकेंगे, उन दोनो के बोध के लिये दो अभिधायें स्वीकार करनी पड़ेगी। अभिनवगुप्त ने श्लेष के प्रसग में दो ही अभिधायें स्वीकार की हैं। उनका मत है कि जहाँ द्वितीय अभिधा व्यापार की सत्ता को बनाने वाला प्रमाण है जसे 'तस्याविनापि हारेण' इत्यादि श्लोक मे।[1] यह श्लोक श्लेष का उदाहरण है। यहाँ दो अभिधायें होगी। आगे चलकर उन्होंने पुन दो अभिधावाली मान्यता दुहराई है। श्लेष से भिन्न ध्वनिक्षेत्र का उल्लेख करते हुये उन्होंने तत्सम्बन्धी चार मतो का उल्लेख किया है। चौथे मत के प्रारम्भिक शब्द ये हैं, द्वितीय पक्ष—अप्रस्तुत पक्ष की व्याख्या मे जो अर्थ सामर्थ्य है उससे द्वितीय अभिधा ही पुनरुज्जीवित हो जाती है।[2]

श्लेष अलकार के इस प्रसग को एक दूसरा उदाहरण लेकर अधिक स्पष्ट करने की आवश्यकता है। उदाहरण है—

रावण सिर सरोज बनचारी। रघुवीर शिलीमुख धारी,

रामायण की इस अर्द्धाली में गोस्वामी जी ने द्वयर्थक शब्द शिलीमुख का प्रयोग किया है। शिलीमुख के दो अर्थ होते है (१) वाण और (२) भ्रमर। यह राम रावण युद्ध के प्रसग की अर्द्धाली है। रावण के दश सिरो मे राम ने बाण समूह मारे। तुलसी ने रावण के सिर समूह पर सरोजवन का आरोप करके एक नवीन प्रसग की योजना की जिससे 'शिलीमुख' के दोनों अर्थ सार्थक हो गये। काव्यशास्त्रियो ने इस प्रसग के दोनो अर्थों को प्राकरणिक स्वीकार किया है और 'शिलीमुख पद के प्रयोग के कारण 'श्लेष' अलकार को वाच्य। श्लेष अलकार को वाच्य कहने का तात्पर्य यह है कि यहाँ द्वितीय अर्थ का बोध भी अभिधा से ही होता है व्यजना से नहीं। इस विषय म डा० भोलाशकर व्यास ने लिखा है, 'जहाँ दोनो ही अर्थ प्राकरणिक होग, वहाँ अभिधा मूला शाब्दी व्यजना नही मानी जायगी। वहाँ श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्यमूलक अलकार ही होगा और वह भी वाच्य रूप मे।[3] उपयुक्त मत में तीन तत्व हैं। (१) जहाँ दोनो प्राकरणिक अर्थ होंगे वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यजना नही होगी (२) वहाँ श्लेष से युक्त कोई न कोई साम्य मूलक अलकार ही होगा और (३) वह भी वाच्य रूप म। वाच्य रूप म अलकार का बोध होगा' कहने से विद्वान डाक्टर का यही अभिप्राय है कि वहाँ दोनो ही अर्थों का बोध अभिधा द्वारा ही होगा। इसके अतिरिक्त अलकार भी वाच्य होगा अर्थात उसके वाचकों का प्रयोग भी रहेगा। शब्द-बुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापाराभाव का ध्यान रखते हुये श्लेष के दोनो प्राकरणिक अर्थों का

---

१ यत्र वा प्रत्युत द्वितीयाभिधा व्यापार सद्भावादेक प्रमाणमस्ति यथा 'तस्या विनापि हारेण' इत्यादौ। लोचन, पृ० ११६

२ इतरेतु—द्वितीयपक्षव्याख्याने यदर्थसामर्थ्य तेन द्वितीयाभिधैव प्रतिसूयते ततश्च द्वितीयार्थो भिधीयत एव न ध्वन्यते। लोचन पृ० १२१

३ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० १६२

बोधक दो अभिधायें स्वीकार करनी पड़ेगी। एक अभिधा एक प्राकरणिक अर्थ का बोध करावेगी और दूसरी दूसरे प्राकरणिक अर्थ का। इन्ही दोनो अर्थों के वाच्य होने के कारण ही 'कोई न कोई साम्यमूलक अलकार वाच्य होगा' आक्षिप्त नही। इस सम्बन्ध में यह कहना आवश्यक है कि श्लेष के साथ सर्वत्र अलकार का होना आवश्यक नही है। अलकार सभावना की स्थिति में उसका वाच्य होना तो अनिवार्य है। परन्तु उसका साम्यमूलक होना अनिवार्य नही है। श्लेष के साथ अलकार नही भी हो सकता है।

यथा—

येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्काय पुराऽस्त्री कृतो।
यश्चोद्वृत्त भुजगहारवलयो गगा च योधारयत्।
यस्याहु शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्य च नामामरा।
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधव।

भगवान् विष्णु परक अर्थ—अजन्मा जिस भगवान् ने शकटासुर को मारा, बलि अथवा बलवान् राक्षसो को जीतने वाला, गोवर्धन तथा पाताल गत भूमि को धारण करने वाला और जो चक्र को वलय के रूप मे धारण करने वाला है, जिसका नाम देवता लोग चन्द्रमा को दमन करने वाले राहु के शिर को नष्ट करने वाला बतलाते हैं, वे यादवो का आवास बनाने वाले, सब कुछ प्रदान करने वाले लक्ष्मीपति तुम्हारी रक्षा करें।

भगवान शकर परक अर्थ—कामदेव को जीतने वाले जिन भगवान् शकर ने बलि को जीतने वाले विष्णु के शरीर को पुराने समय में अस्त्र बना लिया था, उद्वृत्त सर्प ही जिसके हार एव ककण हैं जिसने गगा को धारण किया है, जिसके सिर को चन्द्रमा से युक्त कहते हैं, देवता जिसका 'हर' यह स्तुत्य नाम बतलाते हैं वे अन्धक का नाश करने वाले उमाकान्त भगवान् शकर तुम्हारी रक्षा करें।

यहाँ पर द्वितीय अर्थ वस्तु मात्र ही है अलकार नही। यह छन्द श्लेष का ही उदाहरण है।[1] साथ ही यह भी सर्वत्र आवश्यक नही है कि श्लेष के साथ साम्यमूलक अलकार ही हो। आचार्य भामह का प्रमाण देते हुये अभिनव गुप्त ने सहोक्ति, हेतु और उपमा अलकारों का अधिकता के साथ श्लेष का अनुग्राहकत्व स्वीकार किया है।[2] सहोक्ति और हेतु साम्य मूलक अलकार ही हो जसा कि उपयुक्त विद्वान् ने स्वीकार किया है।

श्लेष दूसरे अलकारों के साथ सम महत्व अथवा समान चमत्कार युक्त होकर भी रह सकता है। यथा—'रक्तस्त्व इत्यादि छन्द मे विरही राम की अशोक के प्रति उक्ति है, हे ! अशोक तुम नव पल्लव से और मैं प्रियतमा के श्लाघ्य गुणो से रगा हुआ हूँ। हे मित्र ! तुम पर शिली मुख भ्रमर आ रहे हैं और कामदेव के धनुष से छूटे हुए शिलीमुख बाण मुझ पर भी। प्रिया का पाद प्रहार तुम्हें आनन्द देता है और मुझे भी। हे ! अशोक हम दोनो की सब बातें समान हैं, विधाता ने केवल मुझे सशोक बनाया है।

---

१ अत्र वस्तुमात्र द्वितीय प्रतीत नालकार इति श्लेषस्यैव विषय
—लोचन, पृ० ११६

२ सहोक्त्युपमा हेत्वलंकाराणां हि भूयसा श्लेषानुग्राहकत्वम्।
—लोचन, पृ० ११०

यहाँ पर 'रक्त', 'शिलीमुख' आदि में श्लेष अलकार है और अन्तिम पक्ति में व्यतिरेक अलकार है। दोनो अलकार सम महत्व के हैं। यहाँ पर श्लेष व्यतिरेक की ससृष्टि है।

दो अभिधाओं के अन्य स्थान—

श्लेष अलकार के अतिरिक्त दो अभिधायें प्रश्नोत्तर अलकार में भी रहती हैं। कभी-कभी मनोरजन के लिये विद्वद्गोष्ठियो मे दो प्रश्नो का यादच्छल से एक साथ उत्तर देने की चेष्टा होती है। जैसे सफेद कुत्ते को दौडते देखकर दो प्रश्न किये गये है —(१) कौन दौड रहा है? (२) दौडने वाले का रग क्या है? दूसरे व्यक्ति ने दोनो प्रश्नो का एक उत्तर 'श्वेतो धावति' कहकर दे दिया। दोनो उत्तरो को स्पष्ट करने के लिये दो प्रकार से अथ किया जायगा। श्वा=कुत्ता, इतो=इधर से, धावति=दौड रहा है। श्वेत इतो धावति=सफेद दौड़ रहा है। श्वेतो से भग-श्लेष की सहायता से दो शब्द मानने पडे और दोनो शब्दो का दो अभिधाओ से अलग अलग अथ हुआ। इसी प्रकार बाधित अथ के प्रसग म भी असम्य अथ की प्रतीति भी अभिधा से माननी पडेगी। कहने का अभिप्राय यह है कि काव्य मे कभी कभी इस प्रकार के शब्दो का प्रयोग हो जाता है जिनके, भिन्न क्रमपाठ से अथवा दो शब्दा के सभी पस्थ अशो के सहपाठ से एक ऐसे अर्थ की प्रतीति हो जाती है जिसे असम्य अथ कहा जाता है। पडित राज ने इसे बाधित स्वीकार किया है। यथा—

१ सरलपन ही था उसका मन। (पन्त)
२ नर हो न निराश करो मन को। (मैथिलीशरण गुप्त)
३ रुचि कुरु। (काव्य प्रकाश)
४ महामीचु रासी सरा पान पाँव धोव। (केशव)

प्रथम उद्धरण में सरलपन और ही को साथ साथ पढने से सरल पनही पाठ भी हो जाता है और उस समय पनही जूते के बाधित अथ की प्रतीति होती है। द्वितीय उद्धरण म 'नर और 'हो' को साथ पढने में 'न रहो' का भी पाठ हो जाता है और उससे एक अमागलिक अथ की प्रतीति होती है जो सवथा अवाछित है। तृतीय उद्धरण मे दोनो पदा मे रुचि और कुरु के सहपाठ से दानो पदों के चि और कु समीपस्थ अशो के सहपाठ से तथा चौथे उद्धरण में भी एक अश्लील अवाछित अर्थ का बोध होता है। यह अथ बाधित इसलिये कहा गया है क्योकि यह अथ न तो कवि को अभीष्ट है, न जानकर ही उसने इस अथ के प्रत्यायक शब्दों का प्रयोग किया है एव न यह अथ प्रकरण सगत ही है। इस अवाछित अथ की प्रतीति अभिधा से होती है अथवा व्यजना से।[1] इसका सीधा और सरल उत्तर यही है कि इस अथ की प्रतीति अभिधा से ही होती है, क्योंकि 'रुचि कुरु' में 'चि कु' मे अश्लीलाथ का सकेत है। यह कश्मीरी भाषा का योनिवाचक शब्द है। जिस व्यक्ति को इस अश्लील सकेतिक अथ का पूव ज्ञान होगा उसी को इसकी प्रतीति होगी अन्य को नहीं। व्यजना से सहृदय को सवथा असकेतित अथ की प्रतीति होती है। पडितराज ने भी ऐसे स्थलो में अभिधा शक्ति से ही बोध स्वीकार किया है।

श्लेष के दोना अर्थों की प्रतीति तो दो अभिधाओ से होती है, इसका निणय हो चुका। शब्द-शक्ति मूल ध्वनि के अप्राकरणिक अथ की प्रतीति अभिधा से होती है अथवा व्यजना से, इस

१ रस गगाधर, पृ० १४४

बात का निर्णय करना है। शब्द-शक्ति-मूल सलक्ष्यक्रम व्यंग्य का आधार अभिधामूला शाब्दी व्यंजना है। श्लेष की प्रसग योजना मे तो दोनो अर्थों की आकाक्षा रहती है परन्तु शब्द शक्तिमूला ध्वनि की प्रसगयोजना के अनुसार केवल एक अर्थ ही प्रकरण-सगत रहता है। लेकिन अनेकार्थक शब्दो के प्रयोग के कारण द्वितीय अर्थ की प्रतिभा भी होती है और यही द्वितीय अर्थ कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता की दृष्टि से मुख्य और रमणीय होता है। इसे प्रकरण-योजना मे अनाकाक्ष होने के कारण अप्राकरणिक नाम दिया जाता है। इसी अर्थ मे कवि की विवक्षा होती है।

महिम भट्ट और अप्राकरणिक अर्थ की अस्वीकृति —

शाब्दिक व्युत्पत्ति की दृष्टि से प्रकरण सगत अर्थ प्राकरणिक और प्रकरण बाह्य अर्थ अप्राकरणिक माना जायगा। परन्तु यह कसे स्वीकार किया जाय कि उस अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती ही है। महिम भट्ट ने अप्राकरणिक अर्थ को अस्वीकार करके उसे वाच्यावचन-दोष मान लिया है। वाच्यावचन दोष वहाँ माना जाता है जहाँ किसी कथनीय बात को न कहा जाय अर्थात कवि द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग करके भी प्रकरण मे ऐसी योजना न करे कि श्लिष्ट शब्दो के दोनों अर्थ सार्थक और प्राकरणिक हो जाँय। इससे आचार्य शब्द शक्ति-मूल ध्वनि के प्रयोग का निषेध करते हैं। इसको उन्होंने इन शब्दो में स्पष्ट किया है। 'श्लेष का प्रयोग वहीं होना चाहिये जहाँ अर्थाभिव्यक्ति के लिये दोनो स्थानो पर कोई निबन्धन किया गया हो अन्यथा श्लेष के प्रयोग में कवि का उद्यम व्यर्थ है। श्लेष का वह प्रयोग कवि को कष्टदायक ही हो सकता है जहाँ द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग होने पर भी अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए प्रकरण मे किसी हेतु का निबन्ध नहीं है।'[1] आचार्य के अन्तिम वाक्य मे शब्द शक्ति-मूल ध्वनि का संकेत है। साहित्य-दर्पण मे भी एक स्थान पर 'दुर्घोलघित विग्रहो' आदि उदाहरण देकर महिम भट्ट द्वारा अप्राकरणिक शिव-परक अर्थ के निषेध की बात कही गई है। उन्होंने जिन पद्या के अप्राकरणिक अर्थ का निषेध किया है उनमे से एक छन्द शिशुपाल वध महाकाव्य मे रैवतक पर्वत का वर्णन है[2] इस छन्द मे ध्वनि पूर्ववर्ती आचार्य वल्लभ देव, ने श्लेष स्वीकार किया है और ध्वन्युत्तरवर्ती टीकाकार मल्लिनाथ ने अभिधामूला शाब्दी व्यजना,[3] अर्थात शब्दशक्तिमूल ध्वनि। इस पद्य का उद्धरण देकर वे कहते हैं, यहाँ 'गिरीश पद की आवर्ति के किसी हेतु का प्रकरण में निबन्धन नहीं है, इसलिये वाच्यावचन नामक दोष है। एक बार प्रयुक्त गिरीश शब्द ही 'श्वेतो धावति की भाँति बिना प्रकरण की

---

१ उभयत्राप्य भिव्यत्तय वाच्य किंचिन्निबन्धनम।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेष बन्धोद्यम क्वे।
तस्मादर्थान्तर व्यक्तिहेतो कस्मिश्चच्च नासित।
य श्लेषबन्ध निबन्ध क्लशायव कवरसौ।—व्यक्ति-विवेक, २ ८४ ८६

२ आच्छादितायत दिगम्बर मुच्चकैर्गामाक्रम्य सस्थितमुदग्र विशाल शृगम।
मूर्ध्निस्खलत् हिनदीधिति कोटिमे नमु द्रीक्ष्यको मुदिन विस्मयते गिरीशम्।
—शिशुपालवध, ४ १६ व्यक्तिविवेक, पृ० ३४५

३ तस्मात्प्राकरणिकार्थमात्रपर्यवसितामिधाव्यापारेणापि
शब्देनार्थान्तर धीकृद्ध्वनि। मल्लिनाथ सवकषा टीका, वही, पृ० १४६

यहाँ 'भद्रात्मनो' वाले उदाहरण मे जा दूसरे हाथी अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति होती है वह व्यजना नाम की चौथी वृत्ति से ही होती है। कारण अभिधा शक्ति प्राकरणिक अर्थ का बोध कराके विरत हो जाती है, मुख्यार्थबाद इत्यादि हेतुओं के अभाव मे लक्षणा का यहाँ अवकाश नही है, तात्पर्य-शक्ति अभिहित और लक्षित अर्थों मे ससगमात्र का बोध कराती है इसलिये इसका भी यहा अवसर नही है। इस प्रसग में यदि कोई यह प्रश्न करे कि 'अर्थ भेद के कारण शब्दभेद स्वीकार कर लेना चाहिये, नियम के कारण यहाँ पर दो शब्दो की कल्पना उसी भाति कर लेनी चाहिये जिस प्रकार श्लेष अलकार के प्रसग म की जाती है। वे वहाँ है भी, केवल सजातीयता के कारण एक का भ्रम होता है। इसलिये प्रथम परवारणादि शब्दा से राजा इत्यादि का अर्थ बोध कराके विरत होने वाली अभिधा के पश्चात द्वितीय शब्द की उपस्थिति के कारण द्वितीय शब्द निष्ठ अभिधा शक्ति से ही दूसरे अर्थ का बोध हो सकता है। इसके बोध के लिये अन्य वृत्ति की कल्पना करने से क्या लाभ ? इस कथन का उपस्थापन आचार्य ने पूर्व पक्ष के रूप मे किया है। इस पूर्व पक्ष का खडन करते हुये वे कहते हैं, 'इस प्रसग म यदि दो शब्दा की कल्पना कर ली जाय तो प्राकरणिक अर्थ की प्रथम प्रतीति किस प्रकार होगी। प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोना अर्थों की प्रतीति अभिधा से स्वीकार करने पर कौन से अर्थ की प्रतीति पहले और कौन से अर्थ की बाद मे मानी जानी चाहिये। दोनो समकालिक प्रतीति असम्भव है। द्वितीय अर्थ के बोध म अभिधा स्वीकार करने पर शब्द की कल्पना आवश्यक होगी, परन्तु धर्मी शब्द की कल्पना के स्थान म उसके धर्म-वृत्ति की कल्पना म लाघव है। इसलिय द्वितीय अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के लिये व्यजना नाम की वृत्ति की स्वीकृति ही उचित है।[१]

प्रसन्नता इस बात की है कि जिस बात को लोचनकार न बिना उपपत्ति के कह दिया था। उस बात की उपपत्ति देने की विश्वनाथ ने चेष्टा की। परन्तु विश्वनाथ न किसी न किसी प्रकार से परम्परा की पुष्टि ही की है। उनका कथन है कि प्राकरणिक और अप्राकरणिक दोना अर्थों की प्रतीति अभिधा से स्वीकार कर लेने पर किस अर्थ की प्रतीति पहले और किस अर्थ की बाद मे स्वीकार की जायगी। ऊपर ध्वन्यालोक का शब्दशक्तिभव ध्वनि का उदाहरण दिया जा चुका है। उसकी मीमासा मे लोचनकार ने स्वीकार किया है कि प्रकरण के कारण 'रूढिर्योगादवलीयसी सिद्धात का उल्लघन करके ग्रीष्म ऋतु परक यौगिक अर्थ का ही बोध होता है। प्रकरण म इतनी शक्ति है कि रूढि का बल भी उसके कारण समाप्त हो गया है। उसी प्रकार 'भद्रात्मनो उदाहरण म भी प्रकरण के कारण राजा परक अर्थ प्रथम और हाथी परक अर्थ बाद मे सरलता से निश्चित हो सकता है। प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति सवत्र पहले होगी और अप्राकरणिक अर्थ की बाद मे। वस्तुत दपणकार की यह आपत्ति तर्क-सम्मत नही जान पडती है। उनकी दूसरी आपत्ति है कि द्वितीय अर्थ के बोध मे अभिधा स्वीकार कर लेने पर 'अर्थभेदेन शब्द भेद भिन्न शब्द की कल्पना करनी पड़ेगी। यह भी कोई आपत्ति है। यदि यह आपत्ति उठानी थी तो श्लेष प्रसग में क्या नही उठाई ? श्लेष प्रसग म साहित्य-दर्पण मे उन्ही ने द्वितीय अर्थ के लिये शब्द कल्पना को प्रश्रय दिया है। यहाँ उसी सिद्धान्त के उपयोग से अरुचि क्यो ? ऊपर से तो कोई कारण जान नही पडता है। कारण तो केवल इतना ही जान पडता है कि परम्परा का विरोध किस प्रकार किया

१ काव्य प्रकाश की बाल बोधिनी टीका में उद्धत काव्य प्रकाश-दर्पण का मत।

—पृ० ६६

जाय ? उन्होने एक बात यह कही कि धर्मी की कल्पना से धर्म की कल्पना श्रेयस्कर है अर्थात् द्वितीय अर्थ के बोध के लिए भिन्न शब्द-कल्पना और पुन अभिधा से उसकी अर्थ प्रतीति मानने म अधिक कठिनाई है, अप्राकरणिक अर्थ का व्यजनागम्य स्वीकार कर लेने पर सरलता है। यह भी वैज्ञानिक तर्क नही है। समझ म तो ऐसा आता है कि पूर्व पक्ष मे उन्होने अपनी यथार्थ मान्यता का उल्लेख करके परम्परा पोषण के लिये उसका अतथ्यपूर्ण खडन कर दिया है।

अप्पय दीक्षित का मत—

वृत्ति वार्तिक नामक अपने लघुकाय ग्रन्थ मे अप्पय दीक्षित ने अभिधा पर विचार करते हुये अभिधामूला शाब्दी व्यजना की समीक्षा की है। उन्होने इस समीक्षा को हृदयगम कराने के लिये 'असावुदयमारूढ'[1] श्लोक का उदाहरण प्रस्तुत किया है। यहा उदय, रक्त मडल और कर आदि द्वयर्थक शब्दो के प्रयोग के कारण दो भिन्न भिन्न अर्थों की प्रतीति होती है। इन दोना अर्थों मे से एक चन्द्र सम्बन्धी अर्थ प्राकरणिक है और राजा से सम्बद्ध अर्थ अप्राकरणिक। प्राचीन ध्वनिवादी अभिनवगुप्त आदि यहाँ अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति व्यजना से ही स्वीकार करेंगे। परन्तु इसके विपरीत आनन्दवर्धन की परम्परा का समर्थन करते हुये आगे उन्होने अपने मत का उल्लेख किया है। वे कहते हैं कि यहाँ पर चन्द्रवाला प्राकरणिक अर्थ है और राजावाला अप्राकरणिक अर्थ। इस पद्य से जिस प्रकार चन्द्र वाले प्राकरणिक अर्थ की प्रतीति हो रही है उसी प्रकार राजा वाले अप्राकरणिक अर्थ को प्रतीति भी। प्रथम अभिधा प्रकरण के कारण चन्द्र वाले प्राकरणिक अर्थ मे नियन्त्रित हो गई। इससे प्राकरणिक अर्थ म राज कर, मडल आदि द्वयर्थक शब्दो से चन्द्र किरण, बिम्ब आदि अर्थों का बोध होता है। उसी प्रकार राजापरक अप्राकरणिक अर्थ म भी इन्ही द्वयर्थक शब्दो स नृपति योग्य एव तद्ग्राह्य धन, देश आदि वाच्यार्थ का बोध होता है। वे जिस प्रकार प्राकरणिक अर्थों के वाचक हैं उसी प्रकार अप्राकरणिक अर्थों के भी वाचक प्रसिद्ध ही हैं। इसलिए जिस प्रकार चन्द्र परक प्राकरणिक अर्थ को प्रतीति अभिधा से होती है। उसी प्रकार राजा परक अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति भी अभिधा से ही होती है। श्लिष्ट शब्द जिस प्रकार प्राकरणिक अर्थ के नियामक हैं उसी प्रकार वे अप्राकरणिक के भी नियामक हैं। अत जिस प्रकार दोनो अर्थों के प्राकरणिक होने पर दोनो जगह अभिधा व्यापार होता है, उसी प्रकार एक अर्थ के प्राकरणिक और दूसरे के अप्राकरणिक होने पर भी अभिधा व्यापार ही होता है।[2] अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति म प्राचीन आलकारिक व्यजना क्यो मानते हैं,

---

१ असावुदयमारूढ कान्तिमान् रक्तमडल।
राजा हरति लो कस्य हृदय मदुभि करै।

१ उदयाचल पर आरूढ लाल रग वाला कान्तिमान् चन्द्र कोमल किरणों से लोगों के हृदयो को आकृष्ट करता है।

२ उन्नतिशील प्रजा का अनुरजन करने वाला राजा थोडा कर ग्रहण करने के कारण प्रजा के हृदय को आकृष्ट करता है।

२ वय तुब्रूम—'असावुदयमारूढ' इत्यादौ—प्राकरणिकेऽर्थे प्राकरणिक वद प्राकरणिकेऽपि राजकर मडलादि शब्दाना परस्परान्वययोग्य नृपति तद्ग्राह्यधन देशादि वाचकाना समभिव्याहाररूपम मभिधानियामक मस्तीत्यय द्वयस्यादि प्राकरणिकत्व इव प्राकरणिका प्रकारणिक रूपत्वेऽप्यु भयत्राभिधव व्यापार यथोक्त समभिव्याहारस्यापि शब्दान्तर सनिधिरूपत्वेन प्रकरण वदभिधा नियामकत्वात्।

—वृत्तिवार्तिक, पृ० १०

अप्पय दीक्षित ने इसका उत्तर भी अपने ढग स दने का प्रयत्न किया है। उनका तात्पय यह है कि अभिधामूला शाब्दी व्यजना के प्रसग मे उपमा आदि साम्यमूलक अलकार प्रतीयमान रूप म अवश्य विद्यमान रहते हैं उन्ही की दृढता के अभिप्राय से प्राचीन आलकारिक अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति में भी व्यजना-व्यापार मानन लगे हैं। वे वस्तुत व्यजना-व्यापार के अस्तित्व के कारण ऐसा नही करते हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि श्लेष की भाँति अभिधामूला शाब्दी व्यजना के भी दोनो अर्थ प्राकरणिक तथा अप्राकरणिक अभिधेय होते हैं।

पडितराज का मत—

उपयुक्त विवरण से स्पष्ट है कि ध्वनिकार की मान्यता जिस पर लोचनकार के कारण पर्दा पड गया था और जिसको विश्वनाथ इत्यादि आचाय पूव-पक्ष मे रखते रहे थे, को अप्पय दीक्षित ने पुनरुज्जीवित करके उत्तर-पक्ष में खडा कर दिया। इस मान्यता को पडितराज का भी समथन हुआ।

यह पहले कहा जा चुका है कि इस विषय पर मम्मट ने कोई विवाद खडा नही किया, विश्वनाथ ने काव्य प्रकाश दपण मे इस प्रश्न को पूव पक्ष में उठाया तो अवश्य परन्तु कतिपय शिथिल तर्कों से परम्परा का अनुमोदन कर विषय को चलता कर दिया। पडितराज ने जिस प्रकार अन्य प्रश्नो की बारीकियो में प्रवेश किया, उसी प्रकार इस प्रश्न की बारीकियो की ओर भी उनका ध्यान गया। उन्होने अपने रस गगाधर में इससे सम्बन्धित भिन्न भिन्न मतो का सग्रह किया है। जिनको अक्षरश यहाँ उद्धृत करना आवश्यक नही है। परन्तु उन्होंने अपने प्रौढ़ तर्कों से यह निश्चित कर दिया कि अप्राकरणिक अर्थ भी प्राकरणिक की भाँति वाच्याथ ही है।

पूव पक्षी व्यजना वादियो के तर्कों का उत्तर देते हुये पडितराज इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि नानार्थक शब्दो के प्रयोग स्थलो म श्लेष की भाति दोनो अर्थों की एक साथ प्रतीति होती है। उसमे प्रकरण आदि कोई बाधक नही होता है। वस्तुत जिस प्रकार श्लेष अलकार में दोनो अथ एक साथ अभिधा शक्ति के द्वारा प्रतीत होते हैं उसी प्रकार व्यजना में भी। अभिप्राय यह है कि पण्डितराज के अनुसार दोना अथ वाच्याथ ही होते हैं और दोनो का बोध अभिधा शक्ति से ही होता है इसलिए द्वितीय अप्राकरणिक अथ की उपस्थिति के लिये व्यजना को स्वीकार करना अनुचित ही है।[1] इसके विपरीत पण्डितराज कुछ ऐसे स्थल भी स्वीकार करते हैं जहाँ पर अप्राकरणिक अथ व्यजना से ही प्रतीत होता है। उन्होने ऐसे स्थलो मे जहा रूढ अथवा यौगिक अनेकार्थक शब्दो का प्रयोग होता है अप्राकरणिक अथ का बोध अभिधा से स्वीकार किया है, किन्तु योग रूढ अथवा यौगिक रूढ अनेकार्थक शब्दो का प्रयोग होने पर अप्राकरणिक अथ की प्रतीति

---

१ प्रतीयमाने उपमाद्यर्थालकारे तदवश्यभाव दृढीकरणाभिप्रायेण न तु तत्रापि वस्तुत व्यजना व्यापारा स्तित्वाभिप्रायेण। वही पृ० १३

२ (अ) नानार्थस्थलेऽपि तात्पर्यविषय कारणताया शिथिलो भवत्यामतात्पर्यार्थ विषय शाब्द बुद्धि सपादनाय व्यक्ति स्वीकारोऽनुचित एव शक्त्यैव बोधद्वयोपपत्ते।

—रस गगाधर पृ० १४१

मे व्यजना व्यापार ही स्वीकार किया है।[1] इस तथ्य को स्पष्ट करने के लिए उन्होने यह उदाहरण दिया है—

अबलानां श्रिय हृत्वा वारिवाहै सहानिशम्।
तिष्ठंति चपला यत्र स काल समुपस्थित ॥

प्राकरणिक अर्थ—यह वह समय (वर्षाकाल) आ गया है जब अबलाओ की शोभा को हरण करके बिजली मेघो के साथ रात दिन रहा करती हैं।

अप्राकरणिक अर्थ—यह वह समय आ गया है जब चपल स्त्रिया (पुश्चली) कमजोरो की लक्ष्मी का हरण करके रात दिन पानी ढोने वालो के साथ रहा करती हैं।

इस पद्य के प्राकरणिक अर्थ मे अबला स्त्री के अर्थ मे योगरूढ़ है वारिवाह मेघ के अर्थ मे यौगिक रूढ तथा चपला बिजली के अर्थ म रूढ है। इस अर्थ में प्राय शब्दो की रूढि-शक्ति ही कार्य करती है। दूसरे अर्थ की प्रतीति मे न तो अवयव यौगिक शक्ति ही काम करती है और न रूढि नान ही। यहां दोनों का साम्य रहता है। इसलिय ऐसे स्थलों मे व्यजना व्यापार के बिना काम नही चल सकता है। इसके लिये वे एक सग्रह श्लोक प्रमाण देते हैं, योग रूढ शब्दो की योग शक्ति जहाँ रूढ शक्ति के द्वारा नियत्रित हो जाय वहाँ योग वाले अर्थ की बुद्धि व्यजना उत्पन्न करती है।[2] नैयायिक भी अभिधामूला शाब्दी व्यजना के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से ही स्वीकार करते हैं।[3]

निष्कर्ष—

श्लेष और शब्द-शक्ति मूल ध्वनि मे अनेकार्थक शब्दो का प्रयोग होता हैं। इन शब्दो से भिन्न भिन्न अर्थों का सकेत-ग्रह है। यह सकेत ग्रह कहीं रूढ कहीं यौगिक और कही यौगरूढ अथवा यौगिक रूढ होता है। अतएव श्रवण करने क प्रथम क्षण में इन शब्दो के प्रमुख अर्थ बुद्धिगोचर होते हैं। दूसर क्षण म कौन सा सकेतित अर्थ प्रकरण प्राप्त है और कौन-सा अर्थ नही, यह शका उत्पन्न होती है। भर्तृहरि की कारिका म 'अनवच्छेदे' से इसी शका का उल्लेख है। तृतीय क्षण में प्रकरण ज्ञान होता है। इमी समय यह भी बोध हो जाता है कि प्रकरण म एक अर्थ की आकाक्षा है अथवा एक सेअधिक की। श्लेष अलकार म एक से अधिक अर्थ की प्रकरणगत आकाक्षा होती है, इसलिए वहाँ सभी अर्थों को प्राकरणिक माना जाता है। प्रथम क्षण मे बुद्धिगोचर होने वाले अर्थों म से कम से कम दो अर्थ—श्लेष में कम से कम दो अर्थ अवश्य प्राकरणिक होगे, दो से अधिक अर्थ हो सकते हैं जस श्रीहर्ष प्रणीत नैषधीय-चरित के पचनली प्रसग मे प्रकरणगत आकाक्षा की पूर्ति करेंगे। इस समय पाठक की बुद्धि एक व्यवस्था और करेगी। वह यह भी

---

१ एवमपि योगरूढिस्थने रूढिज्ञानेन योगापहरणस्य शक्लतप्रसिद्धया रूढयन धिकरणस्य योगार्थालिंगितस्यार्थांतरस्य व्यक्ति विना प्रतातिदु रणादा।

—रस गगाधर पृ० १४४

२ योगरूढस्य शब्दस्य योगेरूढया नियत्रिते।
धिय योग स्पृशोऽर्थस्य या सूते व्यञ्जनैव सा ॥

—रस गगाधर, पृ० १४७

३ ध्वनि सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त, पृ० ३२६

निर्णय करेगी कि किस प्रकरण म कौन सा अर्थ नियन्त्रण हो। इस नियत्रण काय करते समय शब्द, उसका सकेतित अर्थ तथा नियामक प्रकरण तीनो तत्व बुद्धिगोचर रहेंगे। यही प्राचीनो का अर्थ भे देन शब्द भेद वाला नियम है। यह काय दो भिन्न भिन्न क्षणो का है। एक क्षण म एक प्राकरणिक अर्थ का नियमन और दूसरे क्षण म दूसरे प्राकरणिक अथ का नियमन। यही प्राचीनो का श्लेप म दो अभिधा व्यापारों वाला सिद्धात है। कहने का अभिप्राय यह है कि श्लेप में सभी प्राकरणिक अर्थ वाच्यार्थ ही होते हैं।

इस प्रकार शब्द शक्ति मूल ध्वनि म एक ही अर्थ की प्रकरणगत आकाक्षा होती है। श्रवण के तृतीय क्षण म प्रयुक्त अनेकार्थक शब्द का कौन सा अर्थ प्रकरणोपयुक्त है इसका निश्चय होता है। *इस निश्चय के क्षण म अप्राकरणिक अथ स्मति गोचर रहते हैं जो प्राकरणिक अथ का* निश्चय होते ही स्मतिवल से पुन बुद्धिगोचर हो जाते हैं। शब्द शक्तिमूल ध्वनि म प्राय दो ही अथ वाले प्रसग उपस्थित होते हैं जिनम स एक अर्थ का प्राकरणिक अथ म नियमन होते ही अन्य अथ अपने वाचक शब्द के साथ बुद्धि गोचर हो जाता है और इस अथ का निश्चय भी श्लेश वाले अर्थो की भाति द्वितीया अभिधा से हो होता है। श्लेप म दोनो अर्थ तुल्य प्रधान और तुल्य रमणीय होते हैं और दोनो म कवि की विवक्षा होती है लेकिन इसम कवि की विवक्षा प्राकरणिक से अधिक अलकाराश म होती है और वह साम्यमूलक उपमादि अलकार ही कवि का विवक्षित अर्थ होने से मुख्य रहता है। श्लेप म दो वस्तु वाच्य होती है और यहाँ प्रतीयमान शब्द शक्तिमूल ध्वनि मे अलकार होता है। फलत शब्दशक्तिमूल ध्वनि का अलकार श्लेप की वस्तु की अपेक्षा अधिक रमणीय और चमत्कार युक्त होता है। यद्यपि इसके दोना अर्थ प्रथम नितान्त भिन्न जान पडते हैं। परन्तु रूपण होते ही सम्बद्ध और चमत्कार युक्त प्रतीत होने लगते हैं। यही कारण था कि आनन्द वर्धन, अप्पयदीक्षित और पडितराज ने दोनों अर्थों की प्रतीति अभिधा से ही मानी है। इस मान्यता के पक्ष मे एक प्रमाण यह भी है कि ध्वनि पूववर्ती आचार्यों ने ऐसे स्थलो मे जहा ध्वन्युत्तरवर्ती आचार्यों ने शब्दशक्तिमूल ध्वनि स्वीकार की है श्लेप अलकार ही माना है।[1]

शब्द शक्ति मूल ध्वनि और श्लेप का अन्तर—

शब्दशक्ति मूल ध्वनि और श्लेप म समानता होते हुये भी अन्तर है। दोनो में समानता के निम्नलिखित तत्व हैं १ दोनो मे दो दो अर्थों की प्रतिभा होती है २ दोनो ही स्थितियों मे *दोनो ही अर्थ एक दूसरे से नितान्त भिन्न होते हैं और ३ दोनो ही अर्थों का बोध भी अभिधा शक्तियों* से होता है। दोनो के अन्तर के निम्नलिखित तत्व हैं १ श्लेप मे दोनो अर्थ प्राकरणिक होते हैं परन्तु ध्वनि म एक अर्थ प्राकरणिक होता है और दूसरा अर्थ अप्राकरणिक होता है, २ श्लेप मे दोनो अर्थ तुल्य प्रधान और प्राय तुल्य रमणीय होते हैं, परन्तु इसम अप्राकरणिक अर्थ मुख्य और अपेक्षाकृत अधिक रमणीय होना है और ३ श्लेप के साथ यदि कोई अलकार है तो वह वाच्य ही होगा जबकि ध्वनि मे अलकार सवत्र अनिवायत रहेगा और वह भी व्यग्य अथवा आक्षिप्त होगा।

---

१ माघ के ४ १६ की टीका में वल्लभदेव ने श्लेप स्वीकार किया है और मल्लिनाथ ने अभिधामूला शाब्दी व्यजना। —शिशुपाल वध, पृ० १४६

ध्वनिकार और शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि—

ध्वनिकार ने विवक्षितान्य पर वाच्य संलक्ष्य-क्रम ध्वनि के दो भेद स्वीकार किये हैं एक शब्दशक्तिमूल और दूसरा अर्थशक्तिमूल। इनमे शब्दशक्तिमूलध्वनि का लक्षण उन्होंने इन शब्दों मे किया है —

'जिसमे शब्द के द्वारा न कहा हुआ किन्तु शब्द-शक्ति के द्वारा आक्षिप्त ही किया हुआ अलकार प्रकाशित होता है, वह शब्द-शक्तिमूल ध्वनि मानी जाती है।'[1]

इसी तथ्य को वृत्ति के गद्य भाग म पुन इस प्रकार स्पष्ट किया गया है, जिसमे 'अलकार ही, वस्तुमात्र नही, जिस काव्य मे शब्द-शक्ति से प्रकाशित होता है वह शब्द शक्तिमूल ध्वनि होती है। ध्वनिकार इसे दृढ करने के लिये कहते हैं कि यह हमारी धारणा है।'[2] सम्भव है मौखिक विवादो मे इसका प्रतिवाद रखने के कारण ध्वनिकार को इस प्रकार जोर देकर चलना पडा हो। इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनिकार और वृत्तिकार यदि भिन्न भिन्न माने जायें तो दोनो ही शब्द मूल ध्वनि में वस्तु ध्वनि मानने के पक्ष म नहीं हैं। इस मान्यता के पक्ष मे दूसरा प्रमाण यह है कि उन्होंने शब्द-शक्ति मूल ध्वनि की वस्तु ध्वनि का उदाहरण भी नही दिया है।

अभिनवगुप्त और शब्द शक्त युत्थ वस्तु ध्वनि—

लोचनकार ने ध्वनिकार की उपर्युक्त मान्यता को बिना किसी ननुनच के स्वीकार कर लिया है। उन्होने इसी प्रसग में अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध मे कई मतो का सग्रह किया है परन्तु वस्तुध्वनि के सम्बन्ध म कोई प्रश्न नही उठाया है। इसका तात्पर्य यही है कि आचार्य अभिनवगुप्त भी शब्द शक्तिमूल ध्वनि म वस्तु ध्वनि मानने के पक्ष मे नही है। यदि उनको वस्तु ध्वनि अभीष्ट होती तो इस प्रसग को वे अवश्य उठाते। इसका आशय यह है कि आनन्दवर्धन तथा अभिनवगुप्त केवल अलकार ध्वनि को ही शब्दशक्त्युद्भवो ध्वनि मानते है। वस्तु ध्वनि को नही। वे दोनो शब्द शक्तिमूलक ध्वनि का केवल एक ही भेद अलकार ध्वनि स्वीकार करते हैं।

मम्मट और शब्दशक्त्युत्थ वस्तु ध्वनि—

ध्वनिवादी आचार्यों में अभिनवगुप्त के पश्चात् मम्मट का स्थान है। मान्यता के अनुरोध से तो उनका सर्व प्रथम स्थान है। अधिकतर स्थानो में उन्होने लोचनकार का अनुगमन किया है, परन्तु शब्दशक्त्युत्थ वस्तु ध्वनि के प्रसग मे वे लोचनकार की मान्यता का अनुगमन नही करते। उन्होने शब्दशक्ति मूल ध्वनि का लक्षण और भेद करते हुए लिखा है, "जहा पर शब्द से ही अलकार अथवा वस्तु की व्यजना होती है और उसकी प्रधानता भी होती है, वहाँ पर शब्दशक्त्युद्भव

---

१ आक्षिप्त एवालकार शब्द शक्त्या प्रकाशिते।
यस्मिन्ननुक्त शब्दे न शब्द शक्त युद्भवो हि स।

—ध्वन्यालोक, २–२१

२ यस्मादलकारो न वस्तु मात्र यस्मिन् काव्ये शब्द शक्त्या प्रकाशते स।
शब्द-शक्त्युद्भवो ध्वनिरित्यस्माक विवक्षितम्॥

—ध्वन्यालोक, २–२१ की वृत्ति।

मानी जाती है। वह दो प्रकार की होती हैं—१ अलकार ध्वनि और २ वस्तुध्वनि।[1] उन्होने वस्तु ध्वनि का निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

पथिक ! पहाड़ी ग्राम मे प्रस्तर को नहि नाउ।
उठे पयोधर देखिकें चाहो तो बसि जाउ।[2]

साहित्य दपणकार न इस विषय मे काव्य प्रकाशकार का अनुसरण किया है। उनको शब्द शक्ति मूल वस्तु ध्वनि विषयक मान्यता भी यही है और उन्होने उदाहरण भी यही दिया है। फलत इस पर विचार करने से दोना आचार्यो की मान्यताओ का एक साथ विचार हो जायगा। उपयुक्त उदाहरण मे किसी उन्नत पयोधरा, स्वरिणी युवती की पथिक के प्रति उक्ति है। उसका अभिप्राय है कि यदि तुम उपभोग-क्षम हो तो यहाँ पर रात्रि निवास करो। इस प्रसग मे इस व्यग्य के दो तत्व प्रधान नियामक हैं—१ वक्तृवैशिष्ट्य और २ श्लिष्ट शब्द।

यहा पर यह पुन कह देना आवश्यक है कि आर्थी व्यजना म प्रकरण वक्तादि विशिष्टता की विशेष आवश्यकता होती है। शाब्दी व्यजना म उसका सवथा अनुपयोग अवश्य नहीं होता है पर तु उसम प्रकरण की वैसी नियामकता नही होती जसी आर्थी में होती है। ध्वन्यालोक में प्रदत्त उदाहरण 'दत्तान दा प्रजाना म प्रकरण का विशेष महत्व नही है। इसे किसी सूय भक्त की उक्ति मानने पर भी जो अर्थ होगा किसी साधारण व्यक्ति की उक्ति मानने पर भी वही अर्थ होगा, अर्थ में अधिक अन्तर नही आयेगा। यही कारण था कि काव्य प्रकाशकार ने शाब्दी व्यजना के प्रसग मे प्रकरण की नियामकता का उल्लेख ही नही किया है। प्रकरण की नियामकता का उल्लेख केवल आर्थी के ही प्रसग में किया गया है। परन्तु इस पद्य का व्यग्य वक्तादि की विशिष्टता के कारण ही निकलता जान पडता है। उन्नत पयोधरा स्वरिणी युवती के स्थान पर इसी बात को पथिक से कहने वाली कोई शिथिल पयोधरा शिथिल शरीरा वृद्धा मान ली जाय तो उन्ही श्लिष्ट शब्दो के रहने पर भी यह व्यग्य कदापि न निकलेगा। अपितु उसमे श्लष का चमत्कार भी दरिद्र के मनोरथ की भाति उठकर विलीन हो जायगा। इससे यह निर्विवाद स्वीकार किया जा सकता है कि यहाँ पर व्यग्य का एक मात्र नियामक वक्तादिवशिष्ट्य युक्त प्रकरण ही है। श्लिष्ट शब्द नही है। जबकि शब्दशक्तिमूल वस्तु ध्वनि में शब्द केवल पर ही दूसरे अर्थ की व्यजना होनी चाहिए। फलत इस उदाहरण को शुद्ध शब्दशक्त्युद्भव ध्वनि का उदाहरण न मानकर उभयशक्ति मूलक ध्वनि का उदाहरण माना जाना चाहिए। कदाचित् इसी आधार पर रुय्यक ने काव्य प्रकाश की सकेत नामक टीका म काव्य प्रकाश की मान्यता का खण्डन किया है।[3] रुय्यक के मत म काव्य प्रकाश के द्वितीय उदाहरण में वस्तु ध्वनि मानी जा सकती है। काव्य प्रकाश का दूसरा उदाहरण यह है—

---

१ अलकारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते।
प्रधानत्वेन सज्ञेय शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा॥
—का० प्र०, ४-५३

२ काव्य प्रकाश, ४-५८

३ ध्वन्यालोक—तारावती टीका, पृ० ५२२

शनिरशनिश्च तमुच्चैर्निहन्ति कुप्यसि नरेन्द्र यस्मै त्वम् ।
यत्र प्रसीदसि पुन स भात्युदारोऽनुदारश्च ॥[1]

इस पद्य के 'भात्युदारोनुदारश्च' में 'बाल बोधिनीकार' और काव्यप्रकाश की हिंदी प्रभा के टीकाकारों ने विरोध ध्वनि स्वीकार की है। इसलिये इस पंक्ति को विवादस्पद मानकर छोड दिया जाता है। इस पर विचार नही किया जाता है। पद्य के 'शनिरशनि' में काव्य प्रकाशकार ने भी वस्तुध्वनि स्वीकार की है, 'विरोधी भी तेरे अनुगामी होकर एक कार्य करते हैं।' इसके 'नञ' अर्थ में बाल बोधिनीकार ने विरोधध्वनि स्वीकार की है।[2] वस्तुत यहा भी विरोध मे ही अधिक चमत्कार है। ध्वन्यालोक की टीका तारावती के टीकाकार ने लिखा है, 'उपभेद कल्पना में इस बात पर ध्यान रखना होगा कि पाठकों के लिए चमत्कार विधान किस तत्व पर आधारित है। यदि चमत्कार विधान साम्य पर निभर है तो वह अलकार ध्वनि कही जावेगी, यदि उसका आधार द्वयर्थक शब्दों का प्रयोग है तो वह श्लेष अलकार कहा जावेगा और यदि उसका आधार शब्द केवल पर निकलने वाला दूसरा अर्थ है तो वह वस्तुध्वनि कहलावेगी।' इसी सिद्धान्त को कसौटी मानकर शनि और अशनि एक धम सम्बन्ध मानने से तुल्ययोगिता मे और व्यग्य विरोध में, उपयुक्त वस्तुध्वनि की अपेक्षा अधिक चमत्कार है। इसलिए यह भी वस्तुध्वनि का उपयुक्त उदाहरण प्रतीत नहीं होता है। इसलिये मम्मट और विश्वनाथ की शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि विषयक मान्यताओं का निराकरण हो गया।

पंडितराज और शब्द शक्त्युत्थ वस्तुध्वनि--

रसगगाधर के प्रणेता पडितराज जगन्नाथ ने शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि को स्वीकार तो किया है, लेकिन बडे तक वितक के पश्चात। सक्षेप मे उनके कथन पर भी विचार कर लिया जाय। पडितराज ने प्राय आनन्दवधन और अभिनवगुप्त का सोपपत्तिक अनुकरण किया है। यहाँ भी उन्होंने अपनी दार्शनिक सूक्ष्मदृष्टि से मार्ग प्रशस्त अवश्य किया है, परन्तु न जाने यहाँ उनका अनुकरण क्या न कर सके? पडितराज ने शब्दशक्तिमूलक वस्तुध्वनि का उदाहरण यह दिया है, 'कोई कामवशगता स्वरिणी युवती किसी पथिक को देखकर अपनी अन्तरग सखी से कह रही है—'राजा के मेरे प्रतिकूल होने के कारण मेरे लिये बहुत बडा भय उपस्थित हो गया है, हे वाले! पथिक को वास देने की व्यवस्था से उस भय का निराकरण करो।'[3] यहाँ पर राजा शब्द के दो अर्थ हैं, भूपति और चन्द्रमा। युवती प्रकट रूप में नृपतिपरक बात कहती है किन्तु चन्द्रपरक अथ कर लेने पर कामोद्दीपन की व्यजना के साथ प्रतीत होता है कि नायिका पथिक के साथ सहवास की आकांक्षा व्यक्त कर रही है। इस की मीमासा करते हुए पडितराज ने लिखा है, 'यहाँ न तो राजा और चन्द्र म उपमानोपमय भाव की कल्पना की जा सकती है और न इनकी अभेदता मानकर रूपक ही माना जा सकता है। कारण यह है कि उपमा अथवा रूपक वहीं होते हैं जहाँ उपमेय और उपमान दोनो एक साथ उल्लसित हो। यहाँ पर नृपपरक अर्थ का ग्रहण मुख्य अर्थ को छिपाने के लिये हुआ है। इसलिये उपमा और रूपक दोनो अलकार कवि और वक्ता की विवक्षा का विषय नहीं हो सकते। दोनो अर्थ असम्बद्ध भी नहीं हो सकते क्योंकि दोनों

१ का० प्रकाश, ४।५६
२ 'नञो भिन्नार्थत्व' एव विरोध इत्यपि बोध्यम्।'
३ रस गंगाधर।

समकक्ष नही है एव दोनों का असम्बद्ध रूप में प्रतिपादन ही कवि को अभीष्ट है। इस प्रतिपादन स ही राजा-परक अर्थ प्रथम क्षण मे उल्लसित होगा और चन्द्र परक अर्थ द्वितीय क्षण म। दोनो मे आच्छाद्य आच्छादक भाव रहेगा। इसलिये यहाँ पर शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि ही मानी जायगी।[1]

काव्यप्रकाश की उन्नत पयोधरा, स्वरिणी युवती भी अपने मन्तव्य को छिपाना चाहती है। सम्भव है पडितराज को आच्छाद्य आच्छादक भाव की कल्पना करने म काव्य प्रकाश के इस प्रकरण से प्रेरणा मिली हो। पडितराज के उदाहरण का प्रकरण भी ठीक वैसा ही है जसा काव्य प्रकाश का। यहाँ भी वक्ता और श्रोता दोना एक से ही हैं। जिस प्रकार काव्य प्रकाश के वक्ता को बदल देने से उसकी वस्तुध्वनि समाप्त हो जाती है उसी प्रकार रस गगाधर के उदाहरण म भी वक्ता को बदल देन से वस्तुध्वनि समाप्त हो जायगी। रस गगाधर के उदाहरण के प्रकरण में एक बात और भी है जो काव्य प्रकाश के उदाहरण में नही है, वहाँ युवती स्वय पथिक से कहती है, यहाँ पर वह अपनी अन्तरग सखी से। सखी (तो वस्तुत उसके अभिप्राय को समझती है।) तब उसको उससे बात छिपाने की आवश्यकता क्या पडी है ? इसका अर्थ है कि यह बात अन्य सन्निधि मे कही जा रही है। इस प्रकार प्रकरण को दोहरा बल मिल गया। कहने का तात्पर्य यह है कि पडितराज के उदाहरण म भी शब्द केवल पर-अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती है, प्रत्युत प्रकरण के कारण होती है। इसलिये काव्य प्रकाश के उदाहरण की भाति यहाँ भी शुद्ध शब्द शक्तिमूलक वस्तुध्वनि नही मानी जा सकती है।

अप्पय दीक्षित और शब्द शक्त्युत्थ वस्तुध्वनि—

यह तो पहिले बताया जा चुका है कि अप्पय दीक्षित अभिधामूला शाब्दी व्यजना के अप्राकरणिक अर्थ की प्रतीति अभिधा से मानते हैं। वे शब्दशक्त्युत्थ वस्तुध्वनि के मानन के पक्ष मे भी नही जान पडते हैं। वस्तुत उन्ही का मत ध्वनिकार और लोचनकार की परम्परा म है।

निष्कर्ष—डाक्टर रामसागर त्रिपाठी न इस सम्बन्ध मे स्वमत की स्थापना करने क अवसर पर पडितराज के मत को ही प्राय अपन शब्दो म दुहराया है परन्तु उन्होने उसका उदाहरण न देकर केवल यह कहा है कि 'ऐसे स्थान देखे जाते हैं जहाँ शब्द के बल पर दूसरा अर्थ निकलता है, और वक्ता का उस अर्थ को छिपाकर किसी अपन अन्तरग मित्र पर प्रकट करना ही अभीष्ट होता है। ऐसे स्थान पर वस्तुत चमत्कार मे मूलकारण वह छिपाकर कहा हुआ अर्थ ही होता है। वहाँ एक तो सादृश्य की ओर पाठक का ध्यान ही नही जाता और यदि जाता भी है तो वह इतना उपेक्षणीय होता है कि उसके आधार पर ही पाठक के चमत्कार का पर्यवसान नही हो सकता। श्लिष्ट शब्दो से श्लेष की ओर यद्यपि पाठको का ध्यान जाता है तथापि उसम ही सौन्दर्य की विश्रान्ति नहीं हो जाती। सौन्दर्य की विश्रान्ति तब होती है जब पाठक उस छिपाकर कहे हुय अर्थ का परिशीलन करता है। यह क्षेत्र शब्दशक्ति मूलक-वस्तु ध्वनि का ही है अत उसका अपलाप नही हो सकता।[2] यहाँ पडितराज का ही मत दूसरे शब्दो म रखा गया है इसलिये जो कुछ

१ तारावती के आधार पर, पृ० ५२३
२ ध्व० लो० तारावती टीका, पृ० ५२४

वहाँ उस मत के निराकरण मे कहा गया है वह यहाँ भी कहा जा सकता है। दूसरे विद्वान लेखक ने 'ऐसे स्थानों' की बात तो कही है। जहा शब्द शक्ति मूलक वस्तु ध्वनि का अपलाप नही हो सकता, परन्तु कोई उदाहरण नही दिया है। इसलिए उनका कथन केवल कल्पना पर आधृत है किसी उदाहरण पर नहीं। तीसरे अन्तरग मित्र से छिपाकर कही जाने वाली बात सदा अ य सन्निधि मे ही होगी एकान्त मे नही, फलत उस अर्थ का नियामक प्रकरण ही रहेगा। वस्तुत वह अर्थ शक्ति मूल वस्तुध्वनि का प्रसग माना जायगा। चौथे उसमे चमत्कार भी नही होगा। चमत्कार की दृष्टि से तो वस्तुध्वनि तृतीय कोटि की ध्वनि है। इसम स्वत ही उतना चमत्कार नही होता जितना अलकार ध्वनि और रस ध्वनियां मे होता है। वह चमत्कार अर्थ शक्ति मूलक वस्तुध्वनि में थोडा बहुत होता भी है। शब्द शक्तिमूलक चमत्कार श्लेष के चमत्कार के अतिरिक्त दूसरा चमत्कार ही नहा होगा। जितना चमत्कार प्रतीत होगा वह प्रकरण का चमत्कार होगा जैसा काव्य प्रकाश और रस गगाधर के उदाहरणा मे है। यदि चमत्कार होता तो ध्वनिकार, लोचनकार दोना की सूक्ष्म दृष्टि से न बच पाता। फलत इस वस्तुध्वनि मे चमत्कार श्लेष के अतिरिक्त दूसरा नही होता। दूसरे अर्थ की प्रतीति जब अभिधा से होती है उस समय वस्तुध्वनि श्लेष का ही पर्याय होगी। अत शब्द शक्ति मूलक वस्तुध्वनि स्वीकार नही की जा सकती।

इस उल्लेख का अभिप्राय यह है कि सलक्ष्य क्रम-व्यग्य मे शब्द शक्ति मूल ध्वनि के केवल दो ही भेद ध्वनिकार को मान्य हैं—१ पदगत शक्ति मूलक अलकार ध्वनि और २ वाक्यगत शब्द शक्ति मूलक अलकार ध्वनि।

शब्द शक्ति मूल ध्वनि के अतिरिक्त सलक्ष्यक्रम व्यग्य का दूसरा भेद अर्थ शक्ति मूल ध्वनि है। ध्वनिकार ने अर्थशक्ति मूलध्वनि के दो भेद माने हैं—१ स्वत सभवी वस्तुध्वनि, २ कवि प्रौढोक्तिमात्र निष्प न शरीर वस्तुध्वनि।[1] यहाँ पर उन्होने ग्रन्थ की कारिका मे अर्थो पिऽद्विविधो मतो 'पद समूह का प्रयोग किया है। इसको स्पष्ट करते हुए उन्होने वृत्ति में भी लिखा है, कवि प्रौढोक्ति सिद्ध अथवा कविनिबद्ध वक्त प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु ध्वनि एक भेद और स्वत सम्भवी दूसरा भेद। परन्तु आगे चलकर कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति सिद्ध वस्तु ध्वनि का उदाहरण भी दिया है फलत लोचनकार ने अर्थ-शक्ति मूल ध्वनि के तीन भेद मान लिये हैं। उन्होने 'प्रौढोक्ति' को दो भागों मे विभक्त कर दिया है १ कवि प्रौढोक्ति और २ कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्ति। इस का अनुकरण मम्मट एव विश्वनाथ ने किया है, परन्तु पडितराज ने 'प्रौढोक्ति' को दो भागो मे विभक्ति करने वाली मान्यता का खडन करके पुन ध्वनिकार की मान्यता का समर्थन किया है। हेमचन्द्र एव माणिक्य चन्द्र ने भी कवि निबद्ध वक्तृ प्रौढोक्त शक्ति को कवि प्रौढोक्ति में ही स्थान दिया है।[2] वस्तुत प्रौढोक्ति को दो भागो में विभक्त करना समाचीन नही है। ध्वनिकार ने ध्वनि के भेदोपभेदो की गणना करके किसी निश्चयात्मक सख्या का उल्लेख नहीं किया है। लोचनकार ने ध्वनि के शुद्ध भेद पैंतीस, मम्मट और विश्वनाथ ने क्रमश ५१ ५१ और पडितराज ने २६ स्वीकार किये हैं। लोचन में अर्थ शक्ति मूल ध्वनि के प्रबन्ध की व्यजकता की दृष्टि से भेद नहा किये हैं।

१ ध्वन्यालोक, २।२४

२ तारावती, पृ० १७६

मम्मट ने अर्थ शक्ति मूल ध्वनि में भी प्रबन्ध की व्यंजकता मानी है। इस प्रबन्ध की मान्यता के अनुसार ध्वनि के ३७ भेद हुये। रीतिकालीन आचार्यों ने अधिकतर मम्मट का ही अनुकरण किया है। उन भेदोपभेदों का विशेष उल्लेख आगे होगा।

ध्वनि में व्यंग्यार्थ प्रधान एवं अतिशय चमत्कार युक्त होता है। यदि वह अप्रधान अथवा वाच्य की अपेक्षा कम चमत्कार युक्त होता है तो काव्य को गुणीभूत-व्यंग्य की संज्ञा दी जाती है। व्यंग्य अर्थ की स्थिति की दृष्टि से ध्वन्यालोक आदि ग्रन्थों में इस पर भी विचार हुआ है।



तृतीय अध्याय

ध्वनि का व्यावहारिक परिचय

३

व्यञ्जना वृत्ति

गत अध्याय म ध्वनि का सद्धान्तिक निरूपण करने का यत्न हुआ है। 'ध्वनि' शब्द के व्युत्पत्तिपरक पाँच अथ होते हैं। उनमे एक अर्थ—ध्वयते अनया इति, व्यञ्जनावृत्तिपरक होता है। ध्वनि की स्थापना के पूव काव्यक्षेत्र में लक्षणावृत्ति प्रवेश कर चुकी थी। वक्रोक्ति के लक्षण म वामन ने उसका उल्लेख किया है।[1] उद्भट के काव्यालङ्कार-सार सग्रह के पर्यायोक्त अलकार के लक्षण मे चौथी वृत्ति और उसके अवगमन नाम का भी उल्लेख है। इसीलिये आनन्दवधन ने *ध्वन्यालोक के प्रथम उद्योत के अन्त मे भक्ति और व्यजना म अन्तर स्पष्ट किया है। भक्ति, गुण* वृत्ति आदि लक्षणावृत्ति के ही नाम हैं। ध्वन्यालोककार ने लक्षणावृत्ति से ध्वनि का जहाँ पर भेद स्पष्ट किया है वहाँ पर उन्होंने ध्वनि से व्यजनावृत्ति को ही स्वीकारा है, परन्तु उन्होंने व्यजनावृत्ति का नामोल्लेख कही पर नहीं किया है और न उसका विवेचन ही किया है। उसका वृत्ति रूप से भिन्न विवेचन सवप्रथम काव्यप्रकाश में उपलब्ध है। किन्तु व्यजना का वृत्तिपरक लक्षण उन्होंने भी नहीं किया है। व्यजना का वृत्तिपरक सरल एव सुन्दर लक्षण, सबसे पहले साहित्य-दर्पणकार विश्वनाथ ने अपने ग्रन्थ में किया है। वह इस प्रकार है, 'जब अभिधा और लक्षणा वृत्तियाँ विरत हो जाती हैं तो व्यजना वृत्ति द्वारा अन्य अथ की प्रतीति होती है।[2]

रीतिकालीन आचार्यों मे सभाप्रकाश के रचयिता आचाय हरिचरणदास ने इसका लक्षण निम्न प्रकार से किया है।

वृत्ति व्यजना व्यग्य जो व्यक्त करन कों जोग।
जहाँ म अभिधा लछना तात्पर्या न समर्थ।
सब्द अथ से व्यजना रच सु औरे अर्थ।[3]

'जो वृत्ति व्यग्याथ को व्यक्त करने में समर्थ है वही वृत्ति व्यजना है। जहाँ अभिधा, लक्षणा और तात्पर्या किसी अथ को व्यक्त करने म असमथ हो जाती हैं तो शब्द और अथ की सहायता से जो वृत्ति अन्य अर्थ की प्रतीति कराती है उसे व्यजना कहते हैं।' इस लक्षण के पूर्वार्द्ध में थोड़ी सी शिथिलता है किन्तु उसका दूसरा भाग समुचित और वज्ञानिक है। स्पष्ट है कि यह लक्षण साहित्य दर्पण के आधार पर किया गया है किन्तु उसम सभी शब्दवृत्तियो के नामो का समावेश नही है। आचाय विश्वनाथ ने 'अभिधा आदि' पद का प्रयोग किया है किन्तु हिन्दी के लक्षण म शब्द की तीना शक्तियो 'अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या का नाभत उल्लेख है। ध्यान रहे कि 'ध्वनि'

---

१ सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति। का० सू० वृ० ४ ३ ८

२ विरतास्वभिधाद्यासु ययार्थो बोध्यते पर।
सावृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च। सा० द० २ १३

३ सभा प्रकाश २ १७ १८

वियोग मे कथित पदाथ उसका लक्षण होता है। यहा यह भी जान लेना आवश्यक है कि जिन पदो का प्रयोग सयोग मे किया जाता है उन्ही का प्रयोग वियोग की स्थिति म होना है। इस सम्बन्ध के तथ्य का उल्लेख मम्मट और विश्वनाथ ने भी नही किया है और रीतिकालीन आचार्यों मे से भी हरिचरणदास के अतिरिक्त किसी ने नही किया है। उन्हाने अपन इस मन्तव्य को इस प्रकार रखा है

अनेकाथ है शब्द इरु लच्छन लच्छ लखाइ।
यों ही अथ वियोग करि सो सयोग ठहराय॥

जो जानने योग्य है वह लक्ष्य है और जिससे जाना जाता है उसे लक्षण मानत है। यथा गदापद्म सहित विष्णु अथवा गदा पद्म बिना विष्णु पद समूहो म विष्णु शब्द अनेकाथवाची है। इसके अथ विष्णु, चन्द्रमा और कपूर आदि है। इन अर्थों म से गदापद्म विष्णु के ही लक्षण हैं फलत विष्णु का अथ चन्द्रमा और कपूर आदि नही होगा, परन्तु विष्णु ही होगा।

सयोग से—

हरि सोभित हैं चक्र सों शिव कर लस त्रिशूल।
पुष्कर सोभित चन्द्र सों बन पलास के फूल॥

हरि के विष्णु सूय आदि अनेक अथ होते हैं परन्तु विष्णु लक्ष्य है और चक्र लक्षण है इसलिये हरि का अथ विष्णु, इसी प्रकार त्रिशूल लक्षण के कारण शिव का अथ महादेव, चन्द्र लक्षण से पुष्कर का अथ आकाश, तालाब नही और फूल लक्षण स बन का अर्थ बाग, जल नही। दूसरा उदाहरण भी सुन्दर है। वह यह है —

बन की सोभा कज है सर की सोभा नीर।
अम्बर सोभा जोन्ह है धर की सोभा चीर॥

कज लक्षण से बन का अथ जल, नीर लक्षण से सर का अथ तालाब बाण आदि नही, जोन्ह चादनी लक्षण से अम्बर का अथ आकाश, वस्त्र आदि नही और चीर लक्षण स धरका अथ शरीर, पृथ्वी नही। हमारी समझ म इस दोहे म कज, नीर और जोत्स्ना तो क्रमश बन सर और अम्बर के लक्षण हैं परन्तु चीर धर शरीर का लक्षण नही है।

वियोग से—

नाग न सोहत मद बिना राग कहा बिन तान।
बाग न सोहत अध बिन मुख न लस बिनु पान॥

मद लक्षण के वियोग स नाग का अथ हाथी सप नहीं तान लक्षण के वियाग से राग का अर्थ गान प्रीति नही, अथ लक्षण के वियोग से बाग का अथ वाणी वाटिका नहीं है। यहा पर भी पान और आनन म लक्षण लक्ष्य सम्बन्ध नहा है।

जहा प्रयुक्त अनेकाथक शब्द के साथ ऐसे शब्द का प्रयोग हो जो अनेकाथवाची के समान प्रधान भी हो परन्तु उसका लक्षण न हो और यह दूसरा शब्द स्वय अनेकाथक हो तो वहाँ साहचय के कारण अनेकाथक शब्द का अभिधेय निश्चित होता है।

साहचय से—

जीत तहाँ सपति तहाँ धम को जोर।
अरि करि सक न शत्रुता हरि अरजुन जिहि ओर॥

अर्जुन हरि के समान ही प्रधान है। दोनो ही शब्द अनेकार्थक हैं। दोनो मे लक्षण लक्ष्य सम्बन्ध भी नहीं है। अर्जुन के साहचर्य से हरि का अर्थ कृष्ण, रवि आदि नही, और हरि के साहचर्य से अर्जुन का अर्थ पार्थ वृक्ष नही।

साहचर्य मे दोनो शब्दो की समान प्रधानता होती है और दोनों ही शब्द अनेकार्थवाची होते हैं। इन दो तथ्यों का उल्लेख संस्कृत के आचार्यों ने नही किया है हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों मे इन तथ्यो का उल्लेख केवल हरिचरणदास ने किया है।

यहा स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि साहचर्य संयोग और प्रकरण दोना से भिन्न है। इन दोनों म एक ही शब्द अनेकार्थवाची होता है। यहा दोनो शब्द अनेकार्थवाची होने हैं।

साहचर्य और विरोध में दोनो शब्दो की प्रधानता होती है, परन्तु साहचर्य म दोना शब्द अनेकार्थवाची होते हैं, विरोध म एक ही अनेकार्थवाची होता है और दोनो के मध्य विरोध की ही प्रधानता होती है। यही साहचर्य और विरोध दोनो का अन्तर है। विरोध का उदाहरण —

देखो रावन राम में लख्यो प्रलय सु राम।
इन दोउ रामनि में हो कौन गौर को स्याम॥

यहाँ राम रावण म लक्ष्य-लक्षण सम्बन्ध भी नही है। दोनो ही साहचर्य के शब्दो की भाँति प्रधान भी है, दोनो में एक अनेकार्थवाची है। दोनो म यहाँ विरोध ही प्रधान है। विरोध का ही निम्नलिखित उदाहरण है—

याचक लखि हरषित परम बल धीरज को धाम।
अरजुन को जिन मद दलो नमों नमों श्री राम॥

परशुराम एव सहस्रार्जुन की शत्रुता प्रसिद्ध है। फलत इस दोहे में प्रयुक्त अर्जुन पद से सहस्रार्जुन का अर्थ ग्रहण किया जायगा पाडव अर्जुन का नही और श्रीराम से परशुराम का बोध होगा दशरथ तनय श्रीराम का नही।

कही कही वाक्य संगति अथवा अर्थ भी अभिधेय का नियामक होता है। अर्थ प्रसग म भी शब्द बहुत अर्थवाचक होता है परन्तु जहाँ साहचर्य और बिना अन्य शब्द की सन्निधि के अर्थ का नियमन पद समूह अथवा वाक्य के अर्थ से ही होता है, वहा अर्थ को ही नियामक मानना चाहिए। अर्थ का लक्षण इन शब्दो म किया है —

अर्थ हित बहु अर्थ को शब्द बुझावै एक।
साहचर्य बिन अन्य सग अर्थ लखो सविवेक॥

अर्थ से —

विष्णु सों गति जोगी लहैं हरिमय जगत निहारि।
चित्रभानु ग्रह द्युति हर अम्बर हर्यो मुरारि॥

यहाँ विष्णु का अर्थ नारायण है, चन्द्रमा नहीं। यह नारायण परक अर्थ पूरे वाक्य का अर्थ करने पर निश्चित होता है। कारण नारायण के अतिरिक्त गति मुक्ति दूसरे से सम्भव नही है। वाक्यार्थ-संगति भी वेद और पुराणों के प्रमाण प्राप्ति देने पर निश्चित होती है। इसी प्रकार हरि का अर्थ भगवान्, इन्दु आदि नहीं चित्रभानु सूर्य अग्नि नहीं, और अम्बर का अर्थ वस्त्र आकाश नहीं है। यहाँ अन्य शब्द सन्निधि भी नहीं है जैसे घन बरसत म घन के साथ बरसत पद का सन्निधि है। इसका निम्नलिखित भी एक सुन्दर उदाहरण दिया है।

जाचत मूढ़ महीसलौं भूतल भोजन मम।
निसदिन भजौं गिरीश भव-बंधन छेदन श्रम ॥

भव बन्धन काटने के लिए गिरीश-शकर की आराधना करना ही उचित है। गिरीश हिमालय आदि का भजन करने से उपर्युक्त मनोरथ की सिद्धि न होगी अतएव गिरीश का अर्थ हिमालय न होकर महादेव होगा।

प्रकरण का लक्षण—

एक शब्द बहु वाचक आन। प्रकरन तहा प्रसग प्रमान।

प्रकरण मे भी कोई शब्द अनेकार्थवाची होता है। इस शब्द का एक अर्थ प्रसग अथवा प्रकरन के कारण ही निश्चित होता है।

प्रकरण का उदाहरण—

पावक तें दाहक प्रबल को करि सक बखानि।
दियो महाबल जानिकै गरल भीम को आनि॥

यहाँ भीम पद अनेकार्थवाची है। यह दोहा यदि समुद्र मथन के प्रसग मे कहा जाय तो भीम का अर्थ महादेव—महादेव को समुद्र मथन के पश्चात् विष पीने को दिया गया था और महाभारत का प्रसग हो तो भीम का अर्थ पांडव भीमसेन होगा—पाडव भीम को दुर्योधन ने विष पिलाया था।

यह पिछले अध्याय मे कहा जा चुका है कि शाब्दी व्यजना मे भी प्रकरण अथवा प्रसग का विशेष महत्व है, यद्यपि प्रकरण आर्थी मे व्यञ्जना शाब्दी की अपेक्षा महत्वपूर्ण है।

चिन्ह अथवा लिंग का लक्षण निम्नलिखित है।

कहै चिन्ह जाको नहीं सक वियोग बनाय।
जो वियोग ताकौं कर और अर्थ ठहराय॥

चिन्ह वह दृढ़ लक्षण है जिसका वियोग सम्भव न हो और यदि उसके दृढ़ लक्षण का वियोग कर दिया जाय अर्थात् उसका उल्लेख न किया जाय तो अन्य अर्थ की प्रतीति होने लगे।

चिन्ह का उदाहरण—

बिन भूषन मन कों हरै काहे करत सिंगार।
तुव छवि पार लहै न हरि जाके नैन हजार॥

इस दोहे में हरि शब्द अनेकार्थवाची है, परन्तु उसके साथ उसके चिन्ह हजार नेत्र का उल्लेख है इसलिए हरि का अर्थ इन्द्र निश्चित होगा। हजारो नेत्र ऐसा चिन्ह है जिसका वियोग नही किया जा सकता है। यदि हजार नेत्र का यहां उल्लेख न किया जाय तो इन्द्र अर्थ नहीं होगा, राजा आदि अर्थ की प्रतीति होने लगेगी।

अन्य-सन्निधि लक्षण—

एक सब्द के सग तें और अर्थ ठहराय।
बहुवाचक के शब्द को अन्य संनिधि इह भाइ।

जहाँ अनेकार्थवाची शब्द बहुवाचक का किसी अन्य शब्द के संयोग अथवा सामीप्य के कारण अभिधेय निश्चित होता है वहाँ अन्य शब्द सन्निधि ही नियामक मानी जाती है।

अन्य शब्द सन्निधि का उदाहरण—

घन बरसत फूलत सुमन काम चलावत तीर।
नयो नेह पिय को लग्यो तिय घर सकै न धीर॥

बरषत की सन्निधि से घन का अर्थ मेघ होगा, लौह का घन नही, और फूलत की सन्निधि से सुमन का अर्थ पुष्प होगा, देवता नही। इसी प्रकार 'निसाकारी भारी घटा' मे कारी के संग से निसा का अर्थ रात्रि है, हल्दी नही है और पिया बिन लागत हैं अम्बुद डराबनो में पिया के सामीप्य के कारण अम्बुद का अर्थ मेघ है, नागरमौथा नही है, बाजत निसाने शिवराजजू नरेस के' मे बाजत से निसान का अर्थ नगाडा, पताका नही है। अन्य उदाहरण द्रष्टव्य है।

आन सब्द ढिग तें कहूँ बसे एकै अर्थ।
सिखी पक्ष तें जानिये, केकी पर समर्थ॥

यहाँ पर पक्ष शब्द के समीप प्रयुक्त होने से 'शिखी' का अर्थ मोर होगा, अग्नि नही।

जब कवि की उक्ति व्यर्थ होती जान पडती है तो अनेकार्थवाची शब्द का वही अर्थ निश्चित होता है जो अपनी सामर्थ्य के कारण उस अर्थ मे संगति स्थापित कर देता है। इसीलिये इसे सामर्थ्य का नाम दिया जाता है।

सामर्थ्य का उदाहरण—

मुनि गन तजै समाधि-सुख जती तजैं सब जत्त।
मान रहै नहि तियनि को बोलत पिक मधु मत्त॥

मधु का अर्थ प्राय मदिरा होता है। परन्तु उसका पान कोकिल के लिए सम्भव नही है। इस प्रकार कवि की उक्ति व्यर्थ होती सी जान पडती है। उस समय मधु का दूसरा अर्थ बसंत ग्रहण किया जाता है। बसंत में कोकिल को मतवाला बनाने की सामर्थ्य है।

सामर्थ्य का ही एक अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

दास कहू सामर्थ्य तें, एक अर्थ ठहरात।
ब्याल वृक्ष तोरयो कहैं कुंजर जान्यो जात॥

यह सामर्थ्य का उदाहरण है। 'ब्याल वृक्ष तोरयो' कहने से ब्याल का अर्थ हाथी होता है, सर्प नहीं। कारण, वृक्ष के तोडने की सामर्थ्य हाथी ही में है, सर्प मे नहीं।

औचिती का लक्षण—

दो अर्थ के सब्द तें निकरै जोग अजोग।
जोग अर्थ तहाँ किये सो औचिती प्रयोग॥

औचिती अथवा औचित्य में संयोगादि की अपेक्षा विशेषता यह है कि संयोगादि में प्रयुक्त शब्द बहुवाचक होता है परन्तु औचिती के प्रसंग में प्रयुक्त शब्द केवल दो ही अर्थ वाला होता है। इन दोनों अर्थों में से एक अर्थ ही औचित्यपूर्ण होता है। उसको ग्रहण किया जाता है। इसलिए औचिती ही अर्थ नियामक मानी जाती है।

औचिती का उदाहरण—

दुर्निवार संकट पर लखि चित अति अकुलाइ।
तहाँ तहाँ गुरु मुखनि को गुरुपद होत सहायी॥

गुरुमुख के दो अर्थ हैं। एक गुरु के समान मुख और दूसरा गुरु के सम्मुख। इनमे प्रथम अयोग्य अथवा अनौचित्यपूर्ण है। दूसरा अर्थ मान्य है।

औचिती और सामर्थ्य का अन्तर स्पष्ट करने की आवश्यकता है। कनक वरन तन कामनी मोहत मन नन्दलाल में कनक का अर्थ सुवर्ण है, धतूरा नही है। कनक के समान रग मे ही औचित्यपूर्ण अर्थ है। यहाँ सामर्थ्य की सम्भावना अथवा शका का स्थान नहीं है। कारण, सामर्थ्य मे दोनो अर्थो मे सदेह रहता है तब सामर्थ्य से अर्थ निश्चित होता है, परन्तु औचिती के प्रसग मे निकलने वाले दो अर्थो में एक अर्थ औचित्यपूर्ण होना है।

काल से—

चित्रभानु को रूप ज्यौं रजनी मे अति होत।
हरि छवि जसे दिवस मे त्यौं तव वदन उदोत।।

यह दोहा समय काल की प्रधानता का उदाहरण है। चित्रभानु का अर्थ रजनी समय के प्रसग से अग्नि होगा, सूर्य नही और दिवस समय के कारण हरि का अर्थ सूर्य होगा, चन्द्रमा नही।

व्यक्ति का लक्षण—

बहु वाचक मे भेद बताव। लिंग वचन पुनि व्यक्ति कहाव।

व्यक्ति मे लिंग और वचन का ग्रहण होता है। जहाँ अनेकार्थवाची शब्द का एक अर्थ लिंग पुल्लिग अथवा स्त्री लिंग और वचन—एक वचन अथवा बहु वचन के कारण निश्चित होता है वहा व्यक्ति ही अर्थ का नियामक माना जाता है।

व्यक्ति का उदाहरण—

काहे कौं सोचति सखी काहे होत बिहाल।
बुधि बल छल करि राखिहौं, पति तेरी नव बाल।।

यह अभिसारिका नायिका से अन्तरग सखी की उक्ति है। मैं तेरी पति लाज रक्खूगी। यहाँ पति का अर्थ तेरी के स्त्रीलिंग प्रयोग के कारण लाज ही होगा स्वामी नही। यदि नायिका प्रोषित-पतिका होती तो तेरी पति प्रयोग होता। ऐसी स्थिति मे तेरो पुल्लिग प्रयोग होता तो पति का अर्थ स्वामी निश्चित होता। हिन्दी मे ऐसे अनेक उदाहरण नही है। दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है।

व्यक्ति (वचन) का उदाहरण—

सोहत अँगूठा पाइके अनवट जरयौ जराय।
जीत्यौ तरवन दुति सुदर परयौ तरनि तिय पाय।।

यहाँ पर जीत्यौ क्रिया एक वचन है। इसका यह अर्थ कि एक 'तरवन — पैर के नीचे का प्रदेश—ने सूर्य को जीत लिया यदि दोनो तरवन होते तो रविचन्द्र दोनो को जीत लते इत्यादि ध्वनि। यह ध्वनि वचन के कारण ही निकली है।

देश का उदाहरण—

रस ल पुनि तज देत है बसत न ठिक इक धाम।
ज्यों विहरत घनश्याम नभ त्यों विहरत व्रज राम।।

इस दोहे मे घनश्याम और राम अनेकार्थक हैं। घनश्याम नभ आकाश मे विहरते हैं। इससे नभ देश के कारण घनश्याम का अर्थ मेघ होगा, कृष्ण नहीं और व्रज देश के कारण राम का अर्थ बलदेव होगा, परशुराम अथवा दाशरथि नहीं।

देश का अन्य उदाहरण—

देखे विरहत गगन मे राधा हरि इक सग।
हरि राधा इक साथ ही चले गली मे जात॥

यद्यपि राधा और हरि का साहचय है। दोनों की प्रधानता भी है। परन्तु गगन देश के कारण इनका अर्थ राधा और कृष्ण न होकर विसाखा अथवा अनुराधा नक्षत्र और चन्द्रमा होगा। दूसरी पंक्ति में गली देश की प्रधानता के कारण उपर्युक्त चन्द्रमा और नक्षत्र वाला अर्थ न होकर राधा कृष्ण वाला अर्थ ही निश्चित होगा। साहचर्य और देश का यही भेद है।

इस प्रकार अभिधामूला—शाब्दी ध्वनि के अन्तगत उपयुक्त तेरह प्रकार के अर्थ नियामकों का उल्लेख किया गया है। स्वर आदि का प्रभाव वेद में ही होता है। काव्य में 'स्वर परिवतन से अभिधेय का नियन्त्रण नहीं होता है। काव्य में इसी तरह हेतुओं को अभिधेय का नियामक स्वीकार किया जाता है। इनके कारण अनेकार्थक पद एक ही अर्थ में नियन्त्रित हो जाते हैं, किन्तु इस नियन्त्रित अभिधेय के अतिरिक्त भी यदि किसी अन्य अर्थ का भी बोध होता है वहाँ अभिधामूला शाब्दी व्यंजना मानी जाती है। श्लेष में एक पद के दो अर्थ प्रकरण सगत होते हैं। किन्तु अभिधामूला शाब्दी व्यंजना मे एक ही अर्थ प्रकरण सम्मत और प्रकरण सगत होता है।

अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का उदाहरण —

बहु चरन चचल करि हसत रस मय करन बनाय।
रहे उरबसी उर लगी राजत हो हरि राय॥

यह किसी गोपी की उक्ति कृष्ण के प्रति है। कृष्ण के प्रति जितना अर्थ है वह अभिधा प्रतिपादित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें रसमय जलमय, और उवशी नाम की अप्सरा आदि अर्थों के कारण एक अर्थ इन्द्र के प्रति भी लगता है।

अन्य उदाहरण—

भयो अपत के कोपजुत, क बौरो इहि काल।
मालिनि आजु कहैं न क्यों, वा रसाल को हाल॥

मालिन नायिका के पास पहुँचती है, किन्तु उसे नायिका से बातचीत करने के लिए एकान्त नहीं मिला है। सन्देश देना आवश्यक है। नायिका भी सदेश पाने के लिए आतुर है। फलत वह मालिन से निम्न शब्दों में उपवनगत रसाल के माध्यम से नायक का सदेश पूछती है। नायिका के समीप विद्यमान अन्य श्रोता केवल रसाल से सम्बद्ध अर्थ ही समझेंगे, कारण उपवन की देखभाल मालिन ही करती है। यहाँ श्लेष अलकार मानना उचित नहीं है। यद्यपि अपत, कोपजुत, बौरो और रसाल पदों के दूसरे अर्थों की सहायता से ही प्रश्न पूछा जा रहा है। पिछले अध्याय मे शाब्दी व्यंजना और श्लेष का अन्तर विशदतया स्पष्ट किया जा चुका है। यहाँ इतना ही पर्याप्त है कि जिस अर्थ का बोध मालिन और अन्य श्रोताओं को समान रूप से होता है वही प्रसग प्राप्त अर्थ है, उसके अतिरिक्त नायक गत अर्थ प्रसग प्राप्त नहीं है वह केवल नायिका और मालिन से ही सम्बद्ध है।

यहाँ प्रसग अथवा प्रकरण ही अर्थ का नियामक तत्व है। प्रसग के अनुसार उपवनगत-रसाल का वर्णन है परन्तु शब्द विन्यास से नायक का अर्थ भी प्रतीत होता है। हिन्दी के काव्य शास्त्र मे अभिधामूला शाब्दी व्यंजना का यह सरल, सुबोध एव सगत उदाहरण है।

शाब्दी व्यंजना के अभिधामूला भेद का निरूपण हो चुका। आगे लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना का निरूपण किया जाता है।

लक्षणा दो प्रकार की होती है—रूढ़ा लक्षणा और प्रयोजनवती लक्षणा। रूढ़ा लक्षणा में लाक्षणिक शब्दों का प्रयोग होता है जो किसी अर्थ विशेष में रूढ़ हो गए हैं। उदाहरणतः प्रवीण, कुशल, पंकज आदि। प्रवीण पद का प्रारम्भिक अभिधेय वीणा-वादन में दक्ष और कुशल का कुश लाने में दक्ष था। किन्तु अब दोनों पद अपने लाक्षणिक अर्थ में रूढ़ हो गये हैं। इसी प्रकार 'पंकज' का रूढ़ अर्थ कमल है। इन शब्दों के प्रारम्भिक अभिधेय अर्थ प्रायः भूले जा चुके हैं। इसीलिए आचार्य आनन्दवर्धन ने 'रूढ़ा लक्षणा' में व्यंजना की स्थिति स्वीकार नहीं की है। लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना का आधार केवल प्रयोजनवती लक्षणा ही होती है। इसमें प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना से ही होती है।

काव्य प्रकाशकार और साहित्य दर्पणकार ने प्रयोजनवती लक्षणा के दो भेद गूढ़ व्यंग्या और अगूढ़ व्यंग्या माने हैं। किन्तु हिन्दी के रीतिकालीन आचार्यों ने ये लक्षणामूला शाब्दी व्यंजना के भेद स्वीकार किये हैं। हमारी सम्मति में वे माने भी जा सकते हैं।

आचार्यों ने साहित्य-दर्पण के अनुसार गूढ़ व्यंग्य उसे माना है जिसे केवल व्युत्पन्न सहृदय ही समझ सकें और अगूढ़ उसे जिसे सर्वसाधारण समझ सकें।

कवि सहृदय जानै लख्य व्यंग सु कहिये गूढ़।
जानै सब कोऊ लखै सो पुनि होइ अगूढ़॥

गूढ़-व्यंग्या का निम्नलिखित उदाहरण है—

फूले अंग अंग रुचि राजत बहुरंग मानो।
आवत अनंग संग सोहैं छवि सों सने॥

मिली द्रुमि बेलि बन बागनि बिलासनि सौं,
पूरन करत कोलो चौंर ढरि बानि की।
सोमनाथ प्यारे लखैं सौभ घन दामिनी की,
कामिनि कौं चाहै बुद्धि भर सुर बानि की
ओत गुल बेलि अब आनद की ह्वै कै गई,
बिरहीनि हूकें देति कूकें मुरवानि की।
दिगवनितान की सी अलकैं अपार घन,
मोहति अपार बन धार पुरवान की॥

पति परदेश जाने के लिए प्रस्तुत है, उस समय पति को परदेश जाने से रोकने की इच्छा वाली नायिका वर्षा कामोद्दीपक वर्णन करती है। इसमें मिली द्रुम बेलि से जड़ जगत में भी संगम की इच्छा, विरहीन हूकें देति से पावस वियोग में मुझे अपार दुःख होगा, आदि कहकर परदेश जाने से रोकना चाहती है। यह रोकने की इच्छा ही व्यंग्य है। इसका पता कठिनाई से सहृदयों को ही चलता है।

गूढ़ व्यंग्या का अन्य उदाहरण भी द्रष्टव्य है—

आनन में मुसुकानि सुहावनि बंकुरता अँखियानि छई है।
बैन खुले मुकुले उरजात जकी बिथकी गति ठौनि ठई है॥

दास प्रभा उछल सब अग सुरग सुवासता फलि गई है।
चन्द्रमुखी तनु पाइ नवीनो भई तरुनाई आनन्द मयी है॥

चन्द्रमुखी के नूतन शरीर को पाकर स्वय उसका यौवन आनन्दमय हो उठा है। आनन्द प्राप्त करना चेतन का लक्षण है, यौवन उसका लाभ नही कर सकता है। यही लक्षणा प्रसग है। इस वाच्यार्थ का व्यग्यार्थ यह है कि जो कोई पुरुष इस चन्द्रमुखी को प्राप्त करेगा उसे परम आनन्द प्राप्त होगा। इस व्यग्यार्थ को केवल सहृदय ही समझने में समर्थ होगे। अत यह व्यग्यार्थ गूढ है। इस सवैया में मम्मट के उदाहरण की छाया है।

अगूढ व्यग्या का उदाहरण—

धन जोवन इन दुहुन की सोहति रीति सुवेस।
मुग्ध नरनि मुग्धनि भर, ललित बुद्धि उपदेस॥

धन मूर्खो को और यौवन कामिनियो को चातुर्य का उपदेश देता है। 'उपदेश' चेतन गुरु का व्यापार है अर्थात सिखा देता है। यह अगूढ व्यग्य का उदाहरण है।

अगूढ व्यग्या का एक अन्य उदाहरण—

केसरि अग से अगनि मे ससिनाथ दुकूलनि की दुति भारी।
भाल मे रोरी की आड रची मुख बोरी अबीर की फेंट महारी।
लाल प डारि गुलाल की मूठी विलोकति होति हियँ बलिहारी।
खेलति होरी गुपाल सों आज यो लाज तजैं वृषभान कुमारी॥

यहाँ पर लज्जा के त्याग के कारण प्रौढा नायिका व्यग्य है। यह व्यग्य सर्वसाधारण बोधगम्य होने से अगूढ है।

शाब्दी व्यजना के पश्चात् आर्थी का प्रसग उपस्थित होता है। शाब्दी व्यजना मे शब्द की व्यजकता रहती है और अर्थ की सहकारिता, आर्थी व्यजना मे अर्थ व्यजक होता है, शब्द की अर्थ का आश्रय होने के कारण सहकारिता रहती है। काव्य प्रकाशकार ने वक्तादि के कारण अर्थ की व्यजकता स्वीकार की है। आचार्य भिखारी 'दास' ने वक्तादि दशवशिष्ट्यों का उल्लेख करके उनके परस्पर सयोग से आर्थी व्यजना के अनेक भेदों की ओर सकेत किया है। यह काव्य-प्रकाश में भी प्रच्छन्न रूप में विद्यमान हैं। दास से पहिले किसी अन्य आचार्य ने इन भेदो की ओर सकेत नहीं किया है।

"इनके मिल मिल किय, भेद अनन्त लखाइ।"

सस्कृत आचार्यों ने आर्थी व्यजना के प्रसग म अन्य को अभिव्यक्ति के दश हेतुओ का उल्लेख किया है। वे ये है वक्ता, बोधव्य, वाक्य, वाच्य, अन्य-सन्निधि, देश, काल, चेष्टा, काकु, और प्रकरण। इन्हीं दस हेतुओ के कारण प्रतिभाशाली व्यक्तियो को व्यग्यार्थ का बोध होता है।[1] इन्ही को हिन्दी रीतिकालीन आचार्य हरिचरणदास ने निम्न दोहे म एकत्र कर दिया है—

वक्ता अरु बोधव्य पुनि वचन वाच्य अनिसग
देस काल दस जानिये चेष्टा काकु प्रसग।

---

१ वक्तृबोधव्यकाकूना वाक्यवाच्यान्यसन्निधे।
प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात्प्रतिभाजुषाम्॥
योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा॥ —काव्य प्रकाश ३।२१।२२

यद्यपि आर्थी व्यंजना के इन अभिव्यक्ति हेतुओं का संक्षिप्त उल्लेख पिछले अध्याय में हो चुका है। वहाँ व्यंजना व्यापार को अभिधा, लक्षणा तात्पर्या आदि व्यापारों से भिन्न व्यापार सिद्ध करने का उद्देश्य था, यहाँ उनका व्यावहारिक स्वरूप स्पष्ट करने की दृष्टि से विस्तृत विवरण दिया जा रहा है।

(१) वक्ता—कवि अपनी उक्ति को जिस पात्र के द्वारा कहलवाता है वह वक्ता माना जाता है। वक्ता के कारण भी साधारण वाक्यों से भी कभी कभी अत्यन्त गम्भीर व्यंजना होती है। मित्र के मुख से निसृत अत्यन्त साधारण वाक्य शत्रु के मुख से निकलकर अपेक्षाकृत विशेष व्यंजना करता है।

(२) बोधव्य—कवि निबद्ध-वक्ता का श्रोता ही बोधव्य है। अभिधामूला शाब्दी व्यंजना के प्रसंग में उद्धृत उद्धरण 'भयो अपत कै कोप जुत, मैं बोधव्य के मालिन होने से ही दोहे से वह व्यंजना होती है।

(३) वाक्य—कभी कभी वाक्य का गठन ही इस प्रकार का होता है कि उससे उसके गठन के कारण विशेष अर्थ की व्यंजना होती है। वाक्य में प्रयुक्त शब्द आपाततः अनुपयुक्त से प्रतीत होते हैं। वाक्य पर्यालोचना से विशेष अर्थ की व्यंजना होने पर उनकी संगति बैठती है।

(४) अन्य सन्निधि—वक्ता के समीप एक निश्चित उद्देश्य से आया हुआ किन्तु बोधव्य को प्रायः अकस्मात् प्राप्त हुआ प्रतीत होने वाला व्यक्ति। वक्ता की उक्ति इसी पात्र को सुनाने के अभिप्राय से कही जाती है। बोधव्य को साधारण प्रतीत होने वाली उक्ति इस वक्ता की सन्निधि सामीप्य—में रहने वाले इस व्यक्ति को ही विशेष अर्थ की प्रत्यायक होती हैं।

(५, ६)—देश और काल भी विशेष अर्थ की अभिव्यक्ति के हेतु हो रहे हैं।

(७) वाच्य—वाच्य का अर्थ प्रयुक्त वाक्य के अर्थ से है। उक्ति में प्रयुक्त वाक्यों का अर्थ ऐसा रहता है कि उससे विशेष अर्थ—व्यंजना होती है। *वाच्य और वाक्य में स्पष्ट अन्तर है।* वाक्य में वाक्य का गठन और प्रयुक्त शब्दों की पर्यालोचना से व्यंग्य निकलता है। किन्तु वाच्य के प्रसंग में अर्थ से। वाक्य में पाठक का ध्यान भाषा पर रहता है और वाच्य में प्रयुक्त शब्दावली के अर्थ पर।

(८) काकु—काकु कण्ठ ध्वनि को कहते हैं। कण्ठ ध्वनि के बदल से कवि की उक्तियों से विशेष अर्थ की प्रतीति होने लगती है। जहाँ कण्ठ ध्वनि मात्र—प्रश्न करने मात्र—से विशेष अर्थ की प्रतीति होती वहाँ ध्वनि मानी जाती है। इस पर विशद विचार आगे गुणीभूत व्यंग्य के प्रसंग में किया जायगा।

(९) चेष्टा—अंग विकार, नेत्र संकेत आदि।

(१०) प्रस्ताव—प्रकरण का सम्बन्ध वक्ता और बोधव्य की स्थिति से है। प्रकरण को ही प्रसंग अथवा सन्दर्भ भी कहते है। प्रकरण शाब्दी और आर्थी दोनों व्यंजनाओं में विशेष अर्थ का प्रत्यायन कराता है। गत अध्याय में इस पर विशेष विचार हो चुका है।

इन दश हेतुओं का संक्षिप्त विवरण देने के पश्चात् उसके उदाहरण आगे दिये जाते हैं। यहाँ हम एक से अधिक उदाहरण देने का प्रयत्न करेंगे। कभी-कभी इन हेतुओं में से एक, दो अथवा तीन तक मिलकर विशेष अर्थ व्यंजना में सहायक होते हैं।

वक्ता विशेष से—

देवरो ननद खेल खेलत हैं तिहैं सासु
लै सिधारो पीहर के सुख शुभ घरी के।

खरी दुपहरी आखि दुखैं आई बाबाजू की,
पूजा बिन लीजैं क्यों निकाम दुख भरी के।
सीरी बेर फूल जेते बचैन परोसिनि सों,
सुकवि रतन बरजै को डर हरी के ॥
तुम्हें ऐसी हौंसहै तौ आवोजू हमारे घर,
फूल फूलि यों ही जात फूल दुपहरी के ॥

वक्ता सभोग की कामना करने वाली व्यभिचारिणी है। घर के उद्यान के साय प्रात के पुष्पो को तो परोसिन ले जाती हैं दुपहरी के मुरझा कर गिर जाते हैं। घर म इस समय एक वृद्ध बाबा हैं जिनकी आखें दुख रही हैं। तुम नि सकोच दुपहरी के पुष्प लेने आ सकते हो। दुपहरी में सभोग का निष्कटक समय मिल जायगा, व्यग्य है। कवित्त सुदर है।

वक्ता वशिष्टय का यह दूसरा उदाहरण है—

कोऊ जो एक कहै तेहि की सुनि एक की चारि बनाय सुनहो।
रोस कर ननदी बिन कारन ताहू को बातं सबै सुनि लहौं।
कटक के छत छाती लगे तिनकी तन पीर कहां लगि सहो।
होय न अब क्यों सासु उदास प हों तौ कपास के पास न जै हों।

व्यभिचारिणी नायिका की सखी स उचित है। सखी ने वक्ष स्थल के नखक्षत देख लिये हैं। उन्हें वह कपास बीनने म कपास की बोडी की मुड़ी नोकों से उत्पन्न बताकर छिपाना चाहती है।

विशेष अध्ययन के लिए आगे वक्तृ वशिष्ट्य से होने वाली व्यग्यार्थ प्रतीति के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

उपरो घटल डगरी अकुलाइ चवाइ लो गाइन सो डीरि हौं।
भनि श्रीपति दीरघ तप्त उठी अब जैहों तो हौं उतही मीरि हौं।

इत ऊची निसेनिन के चढ़ते श्रम भीति गई आतप ते जी जरि रहौं।
सखि भाकि हौं बठि हौ एक घरी फिरि सांझ भये पनिया भरि हौं ॥

नायिका ने उपपति के साथ चौयरति की है जिसके श्रम के कारण स्वेद आ गया है और लम्बी सास चल रही है। वक्ता व्यभिचारिणी है वह झूठे कारण बता कर अपनी चौयरति को छिपाना चाहती है।

अतिभारी जल कुभ ल आई सदन उताल।
सखि श्रम सलिल, उसास अलि कहा बूझतो हाल ॥

यह उदाहरण मम्मट के उदाहरण का रूपातर मात्र है। रूपान्तर सुदर है, व्यग्याथ की पूर्ण रक्षा हुई है।

कूकत है कोइल पढ़गी वैन चातुरी सुफूने पांचो बान जागे देखे मैन भाग में।
फूलत है पहुप विचित्र चित्र चद देखि उपवन जीव सब होत अनुराग में।
केलि केलि आगे नभ छाइ रही लाली द्रुमराजी हू विराजी सखि सपति सुहाग में।
बिनु ही बसत रति वत मयमत होत तेरो मुख देखे ते बसंत होत बाग में ॥२

यहां दूती की उक्ति हो तो परकीया नायिका है और जो समान सखी की उक्ति हो तो खेल के व्यसन की व्यंजना होगी।

वक्ता के अनुसार ही उक्त उदाहरण का व्यंग्य बदल जायगा। व्याख्या स्पष्ट है।

विशेष से—

तोहि गई सुनि कूल कलिंदि के हौंहु गई सुनि हेलि हहारी।
भूली अकेली 'कुमार' कहूं डरपी लखि कुंजन पुंज अंध्यारी।
गागर के जल के छलके, घर आवत लौं तन भीजिगो भारी।
कंपत श्रासनि ये री बिसासिनि! मेरी उसास रहे न सम्हारी।।[2]

यहाँ वक्ता व्यभिचारिणी स्त्री है जो पानी भरने के बहाने प्रच्छन्न कामुक से मिलने यमुना कुंज में गई है वहाँ से लौटने के पश्चात् अपनी सखी से कह रही है। सुरति जन्य कम्पादि श्रमजन्य कम्पादि से छिपाये जा रहे हैं।

बोद्धव्य विशेष से—

दूबरी भई है देह नींद सौं तजो सनेह हिय मो विरह गहे चिन्ता अधिकाति है।
श्रीपति सुजान भनि जतन अनेकन सों वासर विहात तो प रातिना विहाति है।
हूरिये कराहि के सुकहिये परोसिन सों सहिये परम दुष्ट कलूना विसाति है।
हौं हो मंद भागिनी हौं बड़री अभाग जागो मेरो दुख देखि आली अति बिलखाति है।।[2]

दूती नायक के पास आती जाती है। उसके हृदय में भी कामोपभोग आकांक्षा का उदय हो गया है। प्रेम के उदय से जो स्थिति होती है वह दूती की भी हो रही है। नायिका उसकी आकांक्षा को जान गई है। पद्य की अंतिम पंक्ति से यह व्यंग्य स्पष्ट है कि तू मेरे लिये कष्ट नहीं उठा रही है अपितु अपने ही विरह में दुखी है।

बोद्धव्य विशेष के ही आगे कुछ उदाहरण दिये जा रहे हैं—

बोद्धव्य विशेष से —

चिंता जंभ उनदिंता विह्वलता अलसानि।
लह्यो अभागिनि हौं भलो तेंहू गहे सुजानि।।[2]

यह उदाहरण भी मम्मट का रूपान्तर मात्र है। नायिका की दूती के प्रति उक्ति है। 'तूने नायक से रति की है' यह व्यंग्य है।

सूनो परयो सब मन्दिर है बस रंनि पधारियो पथ सबेरे।
मेरी रहै इत सेज लखो, उत सोवत सासु सुनं सुनं टेरे।।
सूझत साझ बर तुमको न, 'कुमार' कहो यह बात उजेरे।
पथिय मीत! डराति हौं जो कहुँ रात गिरो जिनि ऊपर मेरे।।

इसमें श्रोता कामातुर पथिक है। 'तुम मेरी शय्या में बेखटके आकर सोना' यह इससे व्यंग्य है। छन्द काव्यप्रकाश के उदाहरण का सुन्दर अनुवाद है।

मोहित मैं चित दे फिरी सखो निकुंजन मांहि।
भए अंग श्रमस्वेदकन लह्यौ सु प्रीतम नांहि।।

किसी नायिका ने अपनी दूती को नायक के समीप भेजा था। वह नायक के साथ रति क्रीडा करने के पश्चात् लौटी। उससे नायिका की यह उक्ति है। दूती के शरीर पर उपभोग के

चिह हैं। यहाँ 'मो हित मरे बाम' के लिए का विपरीत लक्षणा से यह अर्थ होगा कि तने मेरा अहित किया है और नायक से समोग करने के पश्चात् अब मुझे दुख देने आई है। तुझे लज्जा आनी चाहिये आदि ध्वनि होगी।

जिसको आचाय मम्मट ने वाक्य वैशिष्टय स्वीकार किया है उसे आचाय हरिचरण दास ने वचन वशिष्टय स्वीकार किया है। उनके उदाहरण पर मम्मट के उदाहरण की छाया है —

इक टक हग दै स्वच्छ रुचि निरखत है मो हार।
यही हार याहो सम लखत न कहा विचार॥

नायिका के हार म उसकी सखी का प्रतिबिम्ब पड रहा था, उस समय नायक उसको टक-टकी लगाकर देख रहा था। उसके चले जाने पर उसने नायिका की ओर से दृष्टि भी हटा ली। सखी से प्रेम है मुझसे नही, यही ध्वनि है।

वाक्य विशेष का दूसरा उदाहरण—

आई हैं गोधन पूजन कों सब गोकुल गाँव की गोप कुमारी।
ता मे महा एक सु दरि है मनि श्रीपति श्री वृषभान दुलारी।
राख्यौ इत उत नेकन स्याम जु मेरे कपोलन दीठि न हारी।
हौं तो वहै अब बेई कपोल हैं ह्व गई औरई दीठि तिहारी।

यह भी का य प्रकाश के वाक्य वशिष्ट्य के उदाहरण का छायानुवाद है। अनुवाद मौलिक जान पडता है। वह सरस, सु दर एव मम्मट सम्मत है।

वाक्य विशेष के कुछ स्मरण—

पजरत हियो समीर तें छ्वै न सकै घनसार।
सजे दूरि धरि अगनि ते नव अरविंदनु हार॥

यहाँ वाक्य से ही विरहिणी नायिका व्यग्य है।

ल्यायो मनोरथ पूरन कै वर ब्याह की दूलहि या रति रानी॥
सासु जिठानि ननद परोसिनि पौरतें पारछि कै घर आनी।
सौति सबै तकि याको महावर याके विलोचन क मुसुक्यानी।
नैन (भोर) सलाके ललौहें विलोकि के पीछे तिरीछे मुरी मुरझानी॥

सवैया का अतिम वाक्य है कि सभी सपत्निया नवोढा का महावर देखकर प्रसन्न हुई परन्तु नायक के ललौहें नेत्रो को देखकर मुरझा गई। आने वाली बधू अपने स्नेह, यौवन आदि के सहारे हमसे नायक को छीन लेंगी, यह उनके मुरझाने से व्यग्य है।

मेरे कवन लाल तन लाल! लखत हौं ईठि।
हौं वह, वे तुम, पैन अब वह सनेह की डीठि॥

नायक एव नायिका के समीप नायक की उपपत्नी खडी है उसका प्रतिबिम्ब नायिका की आरसी में पड रहा है। नायक उपपत्नी के आरसीगत प्रतिबिम्ब को स्निग्ध दृष्टि से देख रहा है। उसके चले जाने पर दृष्टि म परिवत्तन आ गया। उसको नायिका ने देख लिया है। इस दोहे में यही प्रच्छन्न स्नेह व्यग्य है। यह भी काव्य प्रकाश के उदाहरण की छाया है। काव्य प्रकाशकार ने इसमें वाक्य वशिष्टय से व्यग्य स्वीकार किया है। अन्य सन्निधि से भी व्यग्य माना जा सकता है।

यहां दूती की उक्ति हो तो परकीया नायिका है और जो समान सखी की उक्ति हो तो खेल में व्यसन की व्यंजना होगी।

वक्ता के अनुसार ही उक्त उदाहरण का व्यंग्य बदल जायगा। व्याख्या स्पष्ट है।

विशेष से—

तोहि गई सुनि कूल कलिंदि के हौंहु गई सुनि हेलि हहारी।
भूली अकेली 'कुमार' कहू डरपी लखि कुंजन पुंज अन्ध्यारी।
गागर के जल के छलक, घर आवत लौं तन भीजिगौ भारी।
कंपत स्वासनि मे री विसासिनि! मेरी उसास रहे न सम्हारी॥[२]

यहां वक्ता व्याभिचारिणी स्त्री है जो पानी भरने के बहाने प्रच्छन्न कामुक से मिलने यमुना कुंज में गई है वहां से लौटने के पश्चात् अपनी सखी से कह रही है। सुरति जन्य कम्पादि श्रमजन्य कम्पादि से छिपाये जा रहे हैं।

बोद्धव्य विशेष से—

दूबरी भई है देह नींद सौं तजो सनेह हिय मो विरह गहे चिन्ता अधिकाति है।
श्रीपति सुजान भनि जतन अनेकन सों बासर बिहात तो प रातिना बिहाति है।
हरिये कराहि के सुसकिये परोसिन सों सहिये परम दुष्ट कहूना बिसाति है।
हौं ही मंद भागिनी हौं बड़रो अभाग जागो मेरो दुख देखि आली अति बिललाति है॥[२]

दूती नायक के पास आती जाती है। उसके हृदय में भी कामोपभोग आकांक्षा का उदय हो गया है। प्रेम के उदय से जो स्थिति होती है वह दूती की भी हो रही है। नायिका उसकी आकांक्षा को जान गई है। पद्य की अंतिम पंक्ति से यह व्यंग्य स्पष्ट है कि तू मेरे लिये कष्ट नहीं उठा रही है अपितु अपने ही विरह में दुखी है।

बोद्धव्य विपेश के ही आगे कुछ उदाहरण दिए जा रहे हैं—

बोद्धव्य विशेष से —

चिंता जंम उनींदता विह्वलता अलसानि।
लह्यो अभागिनि हौं अली तेहू गहे सुजानि॥[२]

यह उदाहरण भी मम्मट का रूपांतर मात्र है। नायिका की दूती के प्रति उक्ति है। 'तूने नायक से रति की है यह व्यंग्य है।

सूनो परयो सब मन्दिर है बस रैनि पधारियो पथ सबेरे।
मेरी रहै इत सेज लखौ, उत सोवत सासु सुन सुन टेरे॥
सूझत सांझ बर तुमको न, 'कुमार' कहो यह बात उजेरे।
पथिय मीत[१] डराति हौं जो कहुँ रात गिरौ जिनि ऊपर मेरे॥

इसमें श्रोता कामातुर पथिक है। 'तुम मेरी शय्या में बेखटके आकर सोना यह इससे व्यंग्य है। छन्द काव्यप्रकाश के उदाहरण का सुन्दर अनुवाद है।

मोहित मैं चित दे फिरी सखी निकुंजन मांहि।
भए अंग श्रमस्वेदकन लह्यो सु प्रीतम नांहि॥

किसी नायिका ने अपनी दूती को नायक के समीप भेजा था। वह नायक के साथ रति क्रीडा करने के पश्चात् लौटी। उससे नायिका की यह उक्ति है। दूती के शरीर पर उपभोग के

चिह्न हैं। यहाँ 'मो हित' मेरे काम के लिए का विपरीत लक्षणा से यह अर्थ होगा कि तने मेरा अहित किया है और नायक से संभोग करने के पश्चात अब मुझे दुख देने आई है। तुझे लज्जा आनी चाहिये आदि ध्वनि होगी।

जिसको आचार्य मम्मट ने वाक्य वैशिष्ट्य स्वीकार किया है उसे आचार्य हरिचरण दास ने वचन वशिष्ट्य स्वीकार किया है। उसके उदाहरण पर मम्मट के उदाहरण की छाया है —

इक टक दृग वै स्वच्छ रुचि निरखत हैं मो हार।
वही हार वाही समै लखत न कहा विचार॥

नायिका के हार मे उसकी सखी का प्रतिबिम्ब पड रहा था, उस समय नायक उसको टक-टकी लगाकर देख रहा था। उसके चले जाने पर उसने नायिका की ओर से दृष्टि भी हटा ली। सखी से प्रेम है मुझसे नहीं, यही ध्वनि है।

वाक्य विशेष का दूसरा उदाहरण—

आई हैं गोधन पूजन कों सब गोकुल गांव की गोप कुमारी।
ता में महा एक सुदरि है मनि श्रीपति श्री वृषभान दुलारी।
राख्यो इत उत नैनन स्याम सु मेरे कपोलन दीठि न हारो।
हौं तो वहै अब बेई कपोल हैं ह्वै गई औरई दीठि तिहारी।

यह भी काव्य प्रकाश के वाक्य वशिष्ट्य के उदाहरण का छायानुवाद है। अनुवाद मौलिक जान पड़ता है। यह सरस, सुदर एवं मम्मट सम्मत है।

वाक्य विशेष के कुछ स्मरण—

पजरत हियो समीर तें छ्वै न सकै घनसार।
सजै दूरि धरि अगनि त नव अरविंदनु हार॥

यहाँ वाक्य से ही विरहिणी नायिका व्यग्य है।

ल्यायौ मनोरथ पूरन क घर ब्याह कौ दूलहि या रति रानी॥
सासु जिठानि ननद परोसिनि पौरतें पारछि क घर आनी।
सौति सबै तहि वाकी महावर वांके विलोचन क मुसुक्यानी।
नैन (भोर) ललाके ललौहैं बिलोकि के पीछे तिरीछे मुरी मुरझानी॥

सवैया का अंतिम वाक्य है कि सभी सपत्नियां नवोढ़ा का महावर देखकर प्रसन्न हुई परन्तु नायक के ललौहैं नेत्रों को देखकर मुरझा गई। आने वाली वधू अपने स्नेह, यौवन आदि के सहारे हमसे नायक को छीन लेगी, यह उनके मुरझाने से व्यग्य है।

मेरे कन्त लाल तन लाल। लखत हौं ईठि।
हौं वह, वे तुम, पैन अब वह सनेह की डीठि॥

नायक एवं नायिका के समीप नायक की उपपत्नी खड़ी है उसका प्रतिबिम्ब नायिका की आरसी में पड़ रहा है। नायक उपपत्नी के आरसीगत प्रतिबिम्ब को स्निग्ध दृष्टि से देख रहा है। उसके चले जाने पर दृष्टि में परिवर्तन आ गया। उसको नायिका ने देख लिया है। इस दोहे में यही प्रच्छन्न-स्नेह व्यग्य है। यह भी काव्य प्रकाश के उदाहरण की छाया है। काव्य प्रकाशकार ने इसमें वाक्य वशिष्ट्य से व्यग्य स्वीकार किया है। अन्य सन्निधि से भी व्यग्य माना जा सकता है।

मधुर मधुर बातें बहुत क्यो गहि बैठे मौन ।
मुख की छवि औरे भई लखी रावरी गौन ॥

नायिका नायक से कहती है कि अभी अभी आप मुझसे मीठी मीठी बातें करते थे । आप एकदम चुप क्यों हो गये, आपके मुख की छवि भी भिन्न हो गई है । इससे आपको किसी अन्य नायिका तथा उसके साथ किये वायदे का स्मरण हो आया है । यह व्यग्य है ।

अन्य सन्निधि विशेष से—

नाहु नेहु सान्यो सरस नेकुन न्यारो होइ ।
दृग्नि पये प्रात छिन रहै नींद बस सोइ ॥

नायिका पडोसिन से कह रही है । यह दूती जो नायक का सदेश लेकर आई है—को सुनाकर कहा जा रहा है । नायक रात्रि भर घर मे रहता है और प्रेम के कारण जागता रहता है, केवल प्रात काल थोडी देर के लिये सोता है । इससे यह व्यग्य है कि मैं उपपति से केवल प्रात काल ही मिल सकती हूँ ।

अन्य सन्निधि के कुछ अन्य उदाहरण —

गोई अमावस सोम समोई अन्हैं हैंगे सोई जिन्हें सहनो है ।
सासु विभास की बेर सिधारि है सांझ सवारि घरयो गहनो है ॥
केतो कियो ननदी मन दलित देवर घेवर सो लहनो है ।
दोस इहै न रहैगी परोस को कालिह को सूनो हमें सहनो है ॥

जार को समीप जान कर कोई व्यभिचारिणी अपनी सखो से कहती है कि सास सोमवती स्नान के लिये प्रात काल चली जायगी, ननद एव देवर भी न रहेंगे, परोसिनें भी गगा स्नान को जायेंगी । कल मैं अकेली रहूँगी । तुम कल आ सकते हो । यह व्यग्य है ।

अली करेरो हियो मेरो सासु को मो सिर हो सब भार दियों है ।
पैयत है जग में कवि श्रीपति जो कछू पूरब बीज बयो है ।
साझ परे छिन एक लहौं विसराम इतों बडो काज लयो है ।
कासों कहौं सहिबोई बन रहिबो यहि भांति को मेरो भयो है ।

नायिका नायक जो समीप ही खडा है—को सकेत करती है कि सायकाल ही मिल सकूगी । यहा व्यग्य है । उदाहरण मम्मट के अनुकूल है ।

सासु ननद सौंप्यौ सदन कहि करि घर को काज ।
छुटि होइ क होइ नहिं सांझ समै मुहि आज ॥

इस उदाहरण पर मम्मट क उदाहरण की छाया है । नायिका अपने गुरुजनो के समीप वर्ती होने के कारण निकट स्थित जार से स्पष्टत कुछ कहने में असमथ सन्ध्याकाल सहेट में मिलने का सकेत कर रही है । यही ध्वनि है ।

देश वैशिष्टय का उदाहरण —

ल्याई लाल विलोकिये राखो आपु समीप ।
जानौं याहि न और सी जाई सिंहल दीप ॥

यह दूती की नायक के प्रति उक्ति है। यह नायिका जिसको मैं आपके समीप लाई हूँ सिंहल द्वीप में उत्पन्न हुई है। इससे यह ध्वनि निकलती है कि यह अति सुंदरी है और पद्मिनी है।

देश वैशिष्ट्य के कुछ अन्य उदाहरण —

हौं अपने कर फूल बिछाइ हौं अचर झारि सुधारि महो को।
नसुक के बिसराम हौं फेरि जगाइ हौं जाइ निसा जगे पी को।
न कोऊ और निकुंज में फूलरो बातर तोपर छाँडि हौं जो को।
जोरि दुहू कर तोहि निहोरत यहाँ त सिधारिबो रावरो नीको ॥[२]

यहाँ पर 'यह एकान्तप्रदेश है' अत तुम यहाँ गुप्त वेषधारी मेरे जार को वेखटके चले आने दो। कोई नायिका अपनी विश्वासपात्र सखी से निवेदन करती है। उदाहरण सरस, एव काव्यप्रकाश सम्मत है। इस पर भी काव्य प्रकाश की छाया है।

वारे बडेन की बातें चलें तिरछीं तकि क तिरछी मुसुकेहैं।
जये न कैसे लिजये तुम्हें तजि वारो बडेन तो जांचन जहै ॥
साथ परोसिन लै बरई हरयें हरयें घर हो बिनि अइहैं।
सासु सुनौ जु कपास चुनै हम काहुके जहैं न काहु बुलहैं ॥

'कपास चुनने के लिये हम किसी के यहाँ न जायेंगी और अपने कपास के लिये न किसी को बुलायेंगी' आदि बन 'सहेट का स्थान है' अर्थ प्रतीत होता है।

यह वृन्दावन अति सुखद बसीवट सुख धाम।
लाल दुपहरी रहि यहाँ चलिहैं बीते धाम ॥

यह देश एव काल का मिश्रित उदाहरण है।

काल विशेष से—

आपनी बात कहा कहिये मन मोहन जू सबके समुदाय हो।
औचक जागो अभाग को आखर प्रानप्रिया तुमही पै मिटाय हो।
जो गुरु लोगन के बसवें कवि श्रीपति स्याम विदेश सिधाए हो।
राखियो नीको तो बोल बडेन को आइ हौं तो फिरि मोहिन पाइ हो।

गुरुजनो के आदेशानुसार परदेश गमन के लिये तैयार पति से प्रियतमा कहती है कि यदि आप इस बसन्त ऋतु में प्रवास जाते हैं तो मैं आपके विरह में जी न सकूँगी। आपकी क्या गति होगी उसे मैं नहीं जानती। आप इस समय परदेश न जायँ। यह व्यग्य है। उदाहरण मम्मट के अनुसार है।

काल वशिष्ट्य के अन्य उदाहरण—

समय वशिष्टय से—

बरसत दृग सरसत सलिल बरसत घिर घन घोर।
बोलत सुख डोलत अवनि बन बन बोलत मोर ॥

नायिका की विदेश गमन के लिये तत्पर नायक के प्रति उक्ति है। वह वर्षा की ओर नायक का ध्यान आकृष्ट करती है। इससे यह व्यग्य है कि वर्षा मे दूसरे जब घर लौट कर आते हैं, आप जाने की तैयारी कर रहे हैं। खेद की बात है। इस अवसर पर मत जाइये।

दिन इक बठे घर ऐंठे से रहत जेठ,
कहा करौं तिन्हैं ते सुख कौन सकाइ हौं।
सहज सुभाव जोग्यु भाव जो सुभेव मानं,
ऐसे छेव भेव कसे वासर बिताइ हौं।
याही अटपटे में न पट गहि राखति हौं,
इत बीति है जो बात पाति ही सा पाइ हौ।
औधि बदि मधु की सिधारे हौ सिधारौ प्यारे
मधु में न आइहौ तौ माधौ में तो आइ हौ ॥

'मधु म इतै बीति है से 'मैं आपके वियोग मे मर जाऊँगी' अर्थ व्यग्य है। यह भी कवि का अपना उदाहरण है।

चले दुहू दिसितें उमडि सुभट समर किलकारि।
हुव विनोद मन में निरखि तिव्य तरल तरवारि ॥

युद्ध भूमि का वर्णन है। सग्राम समय म विनोद बढने के वर्णन से युद्ध की इच्छा अथवा उत्साह व्यग्य है।

देश वशिष्टय से—

सुखद कुज छाया सघन हरत हिये की ताप।
निरखि दुपहरी जेठ की चलन चहत अब आप ॥

सगमोत्सुका नायिका की उक्ति है। जेठ की इस भयकर दुपहरी मे इस सघन कुज से अच्छा स्थान और कहा मिलेगा ? आप यही सुरति कीजिये। यह व्यग 'जेठ की दुपहरी समय की विशेषता के कारण है।

काव्य वैशिष्टय के अन्य उदाहरण—

वाच्य विशेष से—

भौन अध्यार हू चाहि अध्यारो चवेली के कुज के पुज बने हैं।
बोलत मोर कर पिक सोर जहा तहाँ गुजत भौंर घने हैं ॥
दास रच्यौ अपने ही विलास कौं मन जू हायनि सों अपने हैं।
फूल कलिदजा के सुखमूल लतानि के वृद वितान तने हैं ॥

यह 'दास' का अपना उदाहरण है। इस सवये मे एकान्त प्रकृति का रम्य चित्रण है। प्रकृति का यह वर्णन नायक द्वारा नायिका के प्रति अथवा नायिका द्वारा नायक के प्रति किया गया है। इससे इस स्थान मे विहार की इच्छा व्यग्य है।

चचला चपल चाह चमकत चारों ओर,
झूमि झूमि धुरवा धरनि परसत है।
सीतल समीर लग दुखद वियोगिन को,
सयोगिनि समाज सख साज सरसत है।

कहै परताप प्रति निविड़ अँध्यार मँह
मारग चलत नहिं तम दरसत है।
झुमड़ि झलानि चहूँ कादते उमड़ि आजु,
धराधर धारन अपार बरसत है॥

इसकी व्याख्या में आचार्य ने लिखा है 'इहा सुरति सभोग को व्यंग सो मित्र सम बताय के कहत है तात सुनया के विशेष से व्यंग्य।' यहाँ श्रोता की विशिष्टता से सभोग व्यग्य मानने पर श्रोता व्यभिचारिणी स्त्री होगी। इस छंद में वर्षा का सुंदर चित्रण है। यह वाच्य वशिष्ट्य का सगत उदाहरण है।

लपटि रही है लता तरुन तमालन सों,
विटप विसालन प्रभाव दरसत है।
सीतल सुखद छाह हीतल हरनहार,
सीतल समीरन सनेह सरसत है।
कहै 'परताप' फल कुसुम कदबन ते,
झरि झरि अवनि पराग परसत है।
उमगि प्रमोद चहूँ कोद तें अधिक आजु,
प्यारे वन वीथिन विनोद बरसत है।

सभोग के लिये उत्सुकमना किसी कामिनी की एकान्त में नायक से उक्ति है। 'लपटि रही लता तरुन तमालन सों' आदि के कहने से सभोग की इच्छा व्यग्य है।

वाच्यार्थ विशेष से—

कदली वन सुंदर सीतल छाहर श्रीपति मोमन मोद भरो।
जमुना तट तें सोई कुंज बनी सखि कै गृह काज सब बिसरो।
अजु तनिय सीरी बयारी बही मकरदन कजन पुंज धरो।
दिन कान अचानक काम महीपति तानि सरासन कोप करो॥

यह भी काव्य प्रकाश के वाच्य वशिष्ट्य व्यंग्य के उदाहरण का सुंदर अनुवाद है। कुंजो की प्राकृतिक सघनता, सुंदरता, स्थान की एकान्तता एवं समय की मनोमोहकता कामोद्दीपन के लिये यथेष्ट हैं। सुरत के लिये इस कुंज में प्रवेश किया जाय, यह व्यग्य है।

वाच्यार्थ विशेष के अन्य उदाहरण—

काजर सो बरस घन काजर से परसे ते वियोगन आवे।
घोर घुमार सुमार कर अो खुमार खरो रसको उपजाव॥
दादुर सोर झकोर बयारि के त्यौ वन औरं तें मोर सताव।
साझ जबद्रय के दिन की यहि राति को भोर भट्टसरि भाव॥

वर्षा काल का वर्णन कामुक अथवा उसकी दूती द्वारा है। बादल से काजल अंधेरे की वर्षा, काम की पीड़ा, दादुरो का शोर, हवा के झोंके, मयूरो का शोर आदि है। इस समय सभोग का अवसर है। छंद के अर्थ से ही यह व्यग्य है।

काकु विशेष से—

दुवन दुसासन महीपति सभा मे गह्यो द्रुपत सुता को चीर जग हाहाखात भो।
व्याघन के साथ करयो वन मे निवास भयो कद मूल असन बसन तरुपात भो।
श्रीपति भनित जाय रहे हैं विराट गेह जिहि दिन दिन अनुचित अधिकात भो।
तापर तरत मया करि क सुयोधन पै धरम स्वरूप राजा मोपर रिसात भौ॥

वेणी सहार नाटक मे भीम की सहदेव के प्रति उक्ति है। उसी का यह छायानुवाद है। मम्मट ने काव्य प्रकाश म भी काकु का यही उदाहरण दिया है। जब भीम ने युधिष्ठिर को अनुत्साहित देखकर उलाहना दिया तो सहदेव ने भीम स उलाहना न देने के लिये प्राथना की क्योकि युधिष्ठिर चिढ जायेंगे। उस समय भीम ने सहदेव से कहा कि भाई मुझस जरा सी बात पर चिढ जायेंगे, कौरवों पर इतने अत्याचार करने पर भी न चिढे। यदि क्रोध करेंगे तो मेरे ऊपर क्रोध करना अनुचित है। यह व्यग्य। छायानुवाद सुन्दर है। काकु की विश्रान्ति प्रश्नमात्र से ही हो जाती है।

विशेष अध्ययन के लिये काकु के उदाहरण—

ज्याइ समीर उसीर से बारहि बार मुरारि निकाम भुती।
जाति जरीरी मरोरी इहै रटि सोवन दीहीं न भ्रापु सुती।
राति व बोलि अबोलि भई अब ऐसिहैं मोसी कि तीनि धुती।
क्यों हौं लली जु ललांहि बुलावन हौं हो न गई तुम यों ही हुती।

क्यो लाल को बुलाने मैं ही न गई ? अर्थात् मैं ही अकेली गई थी। यह कम्प स्वेद आदि सभोग्यजन्य नही अपितु मागभय एव गमन श्रम जन्य है, भ्रान्ति अथ व्यग्य है।

गोकुल आज गई दधि बेचन ग्वालि सब मिलिकें ढिकु जानहि।
आयो अचानक दौरि कहूँ ते गुपाल तहा लियें सग सखानहि।
आननि तें पट घूँघट टारि लुटाय भट्ट घटतें कुल कानिहि।
कौन बिकाइ गई बिन मोल विलोकति मोहन की मुसिक्यानहि॥

यहा 'को न बिकाइ गइ' प्रश्न से ही अथ की प्रतीति हो जाने से काकु की विश्रान्ति हो जाती है। इसलिये आर्थी व्यजना का सुन्दर उदाहरण है।

दृग लखि हैं मधु चन्द्रिका, सुनि हैं कल धुनि कान।
रहि हैं मेरे प्रान तन प्रीतम करो पयान॥

'रहि है मेरे प्रान तन काकु से यह अथ निकलता है कि आपके प्रयाण करते ही मैं मर जाऊ गी। इससे व्यग्यार्थ यह हुआ कि 'आप परदेश न जाय।

आगे चेष्टावैशिष्ट्य से प्रकट होने वाले व्यग्य के उदाहरण हैं—

हरि ललचौहैं चखनि त देखी तिय सुख मूल।
प्रात चतुर जल में दियो बधु जीव को फूल॥'

नायिका को नायक ने लालच भरी दृष्टि से देखा तो नायिका ने दुपहरिया का पुष्प दिखाया। इससे यह ध्वनि कि मैं आपसे दुपहरी म वन में मिलूगी।

चेष्टा का लक्षण यह है —

और अंग जो समुभाव । चेष्टा ऐसी क्रिया कहावै ।
हौं बछरान चराइबे कों तित गौ जित हो वृषभान का द्वारो ।
जंघ मिलाइ लई भुज मेलि सकी वितक श्ररु बन बिसारौं ।
श्रीपति जू मनि नन नचाइ क तोल चलाइ कटाछ कटारो ।
सोसतें खचि लियों पट घूंघट के मुख चब रदपौत उघारो ॥

नायिका ने उपपति के सम्मुख आने पर अनेक चेष्टाओं से अपनी कामोपभोग की आकांक्षा व्यक्त की। इसका विशेष उल्लेख द्वितीय अध्याय म आर्थी व्यंजना के प्रसग म चेष्टा के उदाहरण म हो चुका है।

कसिबे मिस नोबिन के छिन तौ अग अगनिदास दिखाइ रही।
अपने ही भुजानि उराजनि को गहि जानु सों जानु मिलाइ रही।
ललचौहैं लजौहैं हँसौ हैं चित हित सों चित चाह बढाई रही।
कनखा करिक पगु सो परिक पुनि सूने निकेत में जाइ रही ॥

इस उदाहरण पर भी काव्य प्रकाश की छाया है। उदाहरण सुदर एव मौलिक सा है। यहाँ चेष्टाओं से सभोग के लिए नायक का बुलाना व्यग्य है।

चपक माल मलो हियें सखी सासु हैं स्याम ।
निरखि प्यारि हू हरसि हंसि उर दूंदी वर दाम ॥

नायक ने नायिका को सम्मुख देखकर चपक माला को हृदय से मलकर गाढ आलिगन का सकेत किया। नायिका ने भी नायक के सकेत को समझकर हसकर हार को हृदय में दबा लिया। इससे अपने अनुराग का सकेत करके अवसर पर मिलने का वायदा किया।

प्रसग वैशिष्ट्य का उदाहरण —

सुन्यौ पीय तो आय है सजनी याही बार।
जो करनी सो कीजिये अब क्यों करति अबार ॥

आचार्य मम्मट ने प्रसग के लिये प्रकरण शब्द का प्रयोग किया है। यह दोहा मम्मट के उदाहरण की छाया है। यदि यह दोहा परकीया के प्रसग म कहा गया है तो यह ध्वनि कि जब अन्य नायिकायें अपने उपपतियो स मिलने गई हैं तू भी अपने उपपति से मिलने के लिये जा और यदि स्वकीया का प्रसग हो तो यह ध्वनि कि तू गृह काय पूरा कर और शृगार आदि कर।

आचाय ने यहाँ पर प्रसग और अन्य संनिधि का अन्तर स्पष्ट किया है। अन्य संनिधि म बोध्य बाधक भाव होता है जिसको समीप जान कर बात कही जाती है वह बोध्य है और वक्ता है बाधक। श्रोता तो बहाना मात्र होता है। इसके विपरीत प्रसग म श्रोता मुख्य होता है, वही बोध्य होता है। जिसके सम्बन्ध मे प्रसग होता है उससे छिपा कर बात कही जाती है।

विशेष अध्ययन के लिए प्रस्ताव वशिष्ट्य से व्यग्यार्थ के अन्य उदाहरण दिये जा रहे हैं—

प्रस्ताव विशेष से—

राज करो बलि काज करो मिलि, आजु हसे बिन जाति न यारी।
सासु रिसाति निसो सरसाति, तुम्हें कछु काव करवे न प्यारी ॥

जैसे हैं अपने अपने घर, चाहि घरी को है आबु उजारो ।
जान को नहूँ बहानो कितो कब रगो की बोध परैगो पत्यारो ॥

घर में एकत्र होने वाली स्त्रियों का कोई व्यभिचारिणी नायिका दूर और रोकना चाहता है, इसी बात में उपपति को दूसरी जन स्त्रियों को विघ्न करने के लिये बहाने बनाता है। अथवा यह कि 'तू इनका रोकने का सन्देह न कर, इनको जाने दे जिससे उपपति से मिलने में निर्विघ्न एकान्त मिल सके'।

घन जोबन तन नारि सुख रहत न जाने कोइ ।
करि सोच ये है घरी जो कछु करनो होइ ॥

रसिकों के प्रसंग में सूरत का विनता व्यंग्य और ज्ञान के प्रसंग में उपदेश व्यंग्य होगा ।

जोबन मान सोहाग गुन रहत न जाने कोइ ।
करि सोचैं चौंसथन प्रथम जो कछु करने होइ ।

जैसा प्रकरण होगा उसी के अनुसार इस दोहे का अर्थ व्यंग्य आयगा । शृंगार के प्रसंग में विरह—भोग माधुर्य कर लीजिये, और उपदेश प्रसंग में धर्म कर लिजिये व्यंग्य लाया जायगा ।

और सब उन्हें बहुँधा तिन एक में बिधु ढंग तोरि दई है ।
औसनिहार कहा करियो चरबो करिहैं तुम बालक भई है ।
कारो किसोरो उभार हाहा चढ़ सूबरो साग मधुर गुसाई है ।
हो जो सुनो घरा बारह में नहिं आबु निहारो लिया घर भई है ।

उपपति के निकट गमन करने के लिये प्रस्तुत नायिका न उसकी प्रतीक्षा कहती है । औरों के सामने स्पष्ट बात कही नहीं जा सकती इसलिये यहि के माध्यम का स्मरण दिलाकर उपपति के पास आने से निवारण करती है ।

साहित्य में शब्द और अर्थ व्यंजना के प्रसंग अनेक उदाहरण प्राप्त नहीं था । इसमें न एक न [illegible] प्राप्त हैं । कहीं दोनों के एक होने के कारण इसको मिश्रित [illegible] कर माना [illegible] है ।

[illegible]—

[illegible] ।
[illegible] ॥
[illegible] ।
[illegible] ॥

[illegible]

मिश्रित हेतुओं से प्रकट होने वाले व्यंग्यार्थ के अन्य उदाहरण—

भोरे भरोसे घरी रह साझ लौं, साझको ओर तो भोर लौं ल्यावति ।
तेरे तो चौरन नीर को ओरो, कटोरो भरे तौं घडो ढरकावति ॥
ऐसो उदार को दूसरो दार जो भीतर आपने औसरी लावति ।
नागरि तू गुन आगरि नागरि धूप ही मे गहि कूपहि धावति ॥

अतरग सखी दुपहरी मे नायक से नायिका के मिलाने का वायदा करके आई है। नायिका को सखिया म उपस्थित देखकर उस नायक से दुपहरी म मिलने का स्मरण दिला रही है। यहां वक्ता, बोद्धव्य आदि का सदाह अर्थ व्यजकता का हेतु है।

इहि सज्जा अज्जा रहै, इहि हौं चाहतु सन ।
हे, रतौंधिहे बात यह, सैन सम भूलै न ॥

यह दोहा मम्मट का अनुवाद है। प्रोषितपतिका व्यभिचारिणी स्वय दूती बनकर कामातुर पथिक स कह रही है। 'रात्रि को मेरी शय्या म आकर सोना' व्यग्यार्थ का प्रतीति हो रही है। यहां वक्ता और बोद्धव्य दोनो हेतुओ का समुदाय है।

अर्थ तीन प्रकार का होता है ? वाच्य, लक्ष्य, और व्यग्य। इन तीनो अर्थो स पुन व्यग्य प्रतीति होती है। इनके क्रमश उदाहरण आगे दिये जाते हैं।

वाच्य की व्यजकता का उदाहरण—

पहिले सुनि बात परोसिनि की कहिबोई करी कब देखो दई।
सुसदेननि नेह बढाई बुलाइ हसी जब पाहुनी देखो नई।
लखि लाल के लोचन लाज कछू अब तौ तन की गति और भई
तिय चारु विचारु जुतै मन मारि पिय मुख हेरि उसास लई।

यहां लोचन लाज' पद से नायक की आसक्ति जानकर उसास ली इससे नायिका का दुख व्यग्य है।

वाच्य की व्यजकता के कुछ और उदाहरण दिये जाते हैं—

छिन छिन ओछी होति कटि छुगी चपलता आन।
चतुराई बैननि बसी नैन लगे तिरछान ॥

यह भी सुदर उदाहरण है। नायिका यौवन म प्रवेश कर रही है। व्यग्यार्थ की प्रतीति दोह के वाच्यार्थ स होती है।

बूझत तोहि न बूझत और प जौं प तुही मति की समुदाय है।
पाइन छूवै बिनती अति ठानति जानि प्रवीन महा मेरी धाय है।
भोर हीं काज करौं घर को भनि श्रीपति जो कछु याको उपाय है।
का रहै कौं ध्यौस गयौ सुख सो अब आजु को बार तो कस बिताय है।

व्यभिचारिणी अपनी धाय स प्रार्थना करती है कि घर का काय शीघ्र समाप्त कर लिया जाय जिसस स या म विश्राम का अवकाश मिल जाय फलत उस अवकाश म पति स सुख पूवक विहार किया जा सके। इसम काव्य प्रकाश क उदाहरण की छाया सी है। यहां वाच्य अर्थ स ही व्यजना होती है।

कहि दीजे हम सौंति सों काज जित घर माहि ।
करि लीज याही घरी दिवस रहे थिर नाहि ।।

नायिका की अन्तरंग सखी के प्रति उक्ति है । मैं दिवस में ही अपने सभी काय समाप्त कर लेना चाहती हू जिससे रात्रि में निशंक होकर प्रिय से मिल सकूँ । यह व्यंग्य वाच्य अर्थ से ही निकलता है ।

अवर सघन घन बरषत मन हरषत बन हेरत हरित छवि छाई है ।
महमहे कुंज लहलहे बेलि पुंज अलि कर मंजु गुंज पिक बोलनि सुहाई है ।
पूरि रहे थल जल पुहमी न हल चल पावस प्रबल यह बेर बनि आई है ।
मोरन की घोर आगे सुनिये न सोर आजु विधि हरि चोरन को भाग की बनाई है ।।

उक्त उदाहरण मे लक्षणा का प्रसंग उपस्थित नहीं होता है । वाच्य से ही एकान्त एवं निर्जन स्थान और कामोद्दीपक समय व्यंग्य है । इस व्यंग्य से सुरति की विनती व्यंग्य है ।

प्रेम मदमाते विन जीहा पिक जीहा जोर,
बोलत पपीहा मोरवान मुख चूमि चूमि ।
तेसिये झकोरन चलत पुरवाई इहै
धुरवा धुरारे छिति छोरन लौं भूमि भूमि ।।
कहे परताप घोर घटा घहराती विज्जु
छटा छहराती लहराती लता लूमि लूमि ।
झुमडि झलान झाने झट सौं झमकि झुकि
झपि झपि सघन घन घूमि घूमि ।।

यहाँ वाच्य से वर्षा का समय प्रतीत होता है और उससे भोग की इच्छा प्रतीत होती है ।

लक्षणा से लक्ष्यार्थ की प्रतीति होती है । लक्षणा के प्रसंग में प्रयोजन की प्रतीति व्यंजना व्यापार से होती है । किन्तु कहीं कहीं लक्ष्यार्थ पुनः व्यंग्यार्थ की प्रतीत का हेतु बन जाता है । लक्ष्यार्थ की व्यंजकता का उदाहरण —

प्रेम को पाठ पढ़ी है तुही यह कोउन जानत प्रेम प्रबीनो ।
श्रीपति आवत जात थकानहि मोल हमे बिन दामन लीनो ।।
तेरी सो तौ सो न और हितू कछु दोबो धौं मोहि कहा सुख दीनों ।
मेरी महा लखि बेदन कों सखि आपन देह निवेदन कीन्हा ।।

नायिका ने दूती को नायक के समीप उसको बुलाने भेजा । नायक ने दूती के साथ भोग कर लिया । दूती के लौटने पर उसके शरीर लक्षणा से नायिका को पता चल गया कि नायक ने इसके साथ रमण किया है । नायक के इस कथन हे सखि ! तूने मेरी वेदना को दूर करने के लिये अपनी देह दे डाली' से विपरीत लक्षणा से यह व्यंग्य निकला कि नायक ने तेरे साथ रमण करके मेरे प्रति अपराध किया है । तुम दोनों ने मुझे दुख दिया है ।

लक्ष्यार्थ की व्यंजकता के कुछ अन्य उदाहरण—

सीतल होत हियो सुनत कहत बात तुनरात ।
लालनु भले भले वदन आइ दिखायो प्रात ।।

नायिका धीरा खडिता है। नायक म यत्र रात्रि बिता कर प्रात काल उपस्थित हुआ है। इसलिए 'हियो सीतल होत' से विपरीत लक्षणा द्वारा' मे आपके व्यवहार से अत्यन्त दुखी हू व्यग्य निकलता है।

तोसों कौन हितू अरी भरी खरी निज काज।
मेरे हित निज अग मे सहे नख-खत आज॥[४]

नायक स सद्य उपभुक्त सखी स नायिका की उक्ति है। उस पर नखक्षत आदि सभोग चिह्न प्रकट हो रहे हैं। उनको देखकर नायिका कहती है। विपरीत लक्षणा स 'तूने अपराध किया है आदि व्यग्य है।

सचर सदा सुनति हों सुजस बढयो सुभ सर।
सुबस बसै लकापुरी पिय रघुवर के बर॥

यह मदोदरी की रावण के प्रति उक्ति है। विपरीत लक्षणा से यह व्यग्य की लका उजाड होगी।

भलो करी नँद-नद तुम रगे कूबरी रग।
कहियो ऊधो नित हमें होति विरह सों जग॥

विरहिणी गोपी उद्धव स कह रही हैं। यहा 'भली करी' से यह व्यग्य है कि 'आपने अच्छा नहीं किया'। जब से आप कूबरी से प्रेम करने लगे हैं तब से हम आपके विरह मे अत्यन्त दुखी हैं। परन्तु यह व्यग्य विपरीत लक्षणा से निकलता है, इसलिये यह लक्ष्यार्थ का उदाहरण है। साहित्य दर्पणकार और काव्य प्रकाशकार ने भी इस प्रसग मे विपरीत लक्षण के ही उदाहरण दिये हैं।

यग्यार्थ पुन व्यजक हो जाता है। व्यग्यार्थ की व्यजकता का उदाहरण—

तुग तमाल की छांह घनी जह सूरज हू नांहि ताप करी है।
सारस हसन कूजत जह देखन को मन मोद भरी है।
श्रीपति जू नलिनी दल में बक-बाल अचचल अछोभ भरी है।
मानो सिंगार के भाजन पर रतिनायक सुन्दर सख धरो है।

इस उदाहरण पर काव्य प्रकाश की छाया है। नायिका नायक के साथ एकान्त प्रदेश म पहुँच गई है। वह नायक को अपनी आन्तरिक कामना व्यक्त करना चाहती है। वह कहती है, चारों ओर तमाल वृक्षों की सतापहारी छाया है और मन म मोद बढ़ाने वाले सारस और हस कूज रहे हैं। इससे स्थान विहार योग्य प्रतीत होता है। कमलिनी पत्र पर बक बाल अचचल बठा है जिससे स्थान की निर्जनता प्रकट होती है। यह व्यग्य से व्यग्यार्थ प्रतीति का सुन्दर उदाहरण है। छन्द मौलिक सा प्रतीत होता है।

व्यग्य व्यजकता के कुछ अन्य उदाहरण—

सोहि रही सरिता चहू ओर तें आव लुव तै बुझे तिहि मांही।
दीस न कोस लो गाऊ चहू दिसि केलि विहग कर चित चाही।
मारग भूलि तु आये भले हो मिलो तुव भाग अकेलो इहा ही।
देखि रे पथिक यावा बीच सु आजु को ग्रीषम भीषम नाहीं।

उपयुक्त वर्णन से एकान्त और निर्जनता है। इस व्यग्य से 'इस मनोरम, सुखद एवं एकान्त निर्जन स्थान मे मेरे साथ सुखपूर्वक भोग करो' नायिका की इच्छा व्यग्य है। यह उदाहरण कवित्वपूर्ण एव सगत है।

कुण्डल मुकुट कटि काछनी तिलक भाल।
सोमनाथ कहै मद गवन मनोहरा।
यारिये री। कोरि मनमथ की निकाई देखि,
भकुटी नचाव री रचाव चित्त मोहरा।
बडे बडे नैन पुनि सावरे वरन वर
लोगनि को लगर लुभावे पढि दोहरा।
आय नित मुरली बजावे तान गावै यह,
छरहरो कौन को छवीलो छल छोहरा॥

इसमे वक्ति के कथन की भाँति अपरिचय व्यग्य और पुन उस व्यग्यार्थ से भी परिचय करने की इच्छा अथवा मिलने की इच्छा व्यग्य है।

निहचल विसनी-पत्र पर, उत बलाक इहि भाति।
मरक्त भाजन पर मनो, अमल सुख सुभ कांति॥

नायक और नायिका एकान्त प्रदेश म पहुचते हैं तो नायिका नायक से कहती है। बलाका का विसनी पत्र पर निश्चल बैठना उसके आश्वस्त होने का सूचक है और इससे वह स्थान निर्जन और एकान्त है फलत सुन्दर सहेट है, यह व्यग्यार्थ है। अथवा तुम इधर नही आये यदि इधर आते तो यह बलाका इस प्रकार निश्चल बैठी होती तुमने वायदे का पालन नही किया आदि व्यग्यार्थ की प्रतीति भी होती है।



२—ध्वनि-काव्य

यहाँ तक ध्वनि के किस व्यावहारिक रूप का उल्लेख हुआ जो करण प्रधान अर्थ अथवा व्यञ्जना-व्यापार माना जाता है। ध्वनि का एक अन्य अधिकरण प्रधान भी होता है और इस अर्थ ध्वनि शब्द से प्रमुखतया काव्य का ग्रहण किया जाता है। ध्वनि कार ने उसका लक्षण निम्नलिखित शब्दों में किया है। जहाँ अर्थ अथवा शब्द अपने को अप्रधान करके उस अर्थ (व्यंग्य) को अभिव्यजन करते हैं उस काव्य विशेष को विद्वान् लोग ध्वनि कहते हैं।[१]

इस लक्षण में ध्वनि के दोनों ही प्रधान रूपों का उल्लेख है। (१) व्यंग्य अर्थ और (२) व्यंग्य अर्थ युक्त काव्य। व्यंग्य अर्थ के प्रति व्यजक शब्द और अर्थ गौण हो जाते हैं। वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य मे जब चारुता और प्रधानता होती है उस समय उससे युक्त काव्य ध्वनि कहलाता है। परन्तु वस्तुत वही व्यंग्य ध्वनि माना जायगा जो वाच्य की अपेक्षा प्रधान और चमत्कार युक्त होगा, वाच्य की अपेक्षा व्यंग्य मे सर्वदा प्रधानता रहती है क्योंकि वक्ता का बोधव्य के प्रति यही अभीष्टार्थ है। इस प्राधान्य का एक आधार व्यंग्यार्थ का वाच्यार्थ की अपेक्षा चारुत्व युक्त होना भी है।[२] साहित्य-दर्पणकार के लक्षण में ध्वनि पद का प्रयोग व्यंग्यार्थ का बोधक है और काव्यप्रकाश के लक्षण म काव्य का। काव्यप्रकाशकार ने अपने लक्षण की वृत्ति म स्पष्ट करते हुए लिखा है, "लक्षण मे जो इदम् पद है वह काव्य का बोधक है। ध्वन्यालोककार के परवर्ती आचार्यों ने इन्ही दोनों अर्थों में से किसी एक को प्रधानता दी है। अर्थात् आचार्यों का एक वर्ग काव्य को प्रधानता देकर चला तो दूसरा व्यंग्य अर्थ को। मम्मट काव्य को प्रधानता देने वाले आचार्य हैं और विश्वनाथ व्यंग्य अर्थ रस को प्रधानता देने वाले। जैसा पहले कहा जा चुका है व्यंग्यार्थ वाच्यार्थ की अपेक्षा प्रधान अथवा प्रमुख होता है। व्यंग्यार्थ का प्राधान्य दोनों वर्गों के आचार्यों को मान्य है। इसकी प्रधानता तो काव्यस्यात्मा ध्वनि[३] कहने वाले आचार्य से लेकर व्यक्तिश्चानावरणा चित्[४] स्वीकार करने वाले आचार्य तक ने स्वीकार की है। काव्य की उत्तमता और अधमता इसी अर्थ के न्यूनाधिक समावेश अथवा उसके चारुत्वाचारुत्व पर निर्भर करती है। प्राय आचार्यों ने काव्य का विभाजन इसी व्यंग्यार्थ के आधार पर किया है। यह अर्थ ही काव्य के विभाजन की प्रमुख कसौटी है।

ध्वनिकार ने व्यंग्य की प्रधानता अथवा अप्रधानता की दृष्टि से काव्य के मुख्य दो भेद किये हैं।

प्रधानगुणभावाभ्या व्यंग्यस्यैव व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ।[५]

---

१ ध्वन्यालोक १/१३
२ इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद्ध्वनिर्बुधः कथितः । का० प्र० १/२
३ ध्वन्यालोक १/१
४ रसगंगाधर
५ ध्वन्यालोक ३।४२

जहाँ काव्य में व्यंग्य अर्थ की प्रधानता होती है वहाँ 'ध्वनि' नामक काव्य स्वीकार किया जाता है और जहाँ व्यंग्य अर्थ अप्रधानता प्राप्त कर लेता है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य नामक मध्यम काव्य माना जाता है।[1] उदारचेता आचार्य ने जब यह देखा कि ध्वनि जैसे विशाल क्षेत्र के प्रतिष्ठित हो जाने पर भी कुछ काव्याभिधायी वाङ्मय बच जाता है। जो व्यंग्य चारुत्व की प्रधानता और अप्रधानता वाले उपर्युक्त दोनों काव्यों की कोटि में सम्मिलित नहीं किया जा सकता तो उन्होंने काव्य के तीसरे भेद चित्र को भी मान्यता दी —

"उसके (ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के) अतिरिक्त जो अन्य काव्य है उसको चित्र काव्य कहते हैं।"[2]

उन्होंने अपनी चित्र-काव्य सम्बन्धी मान्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है। "उन (ध्वनि *तथा गुणीभूत व्यंग्य*) दोनों से भिन्न रस, भाव आदि तात्पर्य से रहित, और व्यंग्यार्थ विशेष के प्रकाशन की शक्ति से रहित, केवल वाच्यवाचक (अर्थ और शब्द) के वैचित्र्य के आधार पर निर्मित जो काव्य आलेख्य (चित्र) के समान (वास्तविक रूप रहित *प्रतिकृतिमात्र) प्रतीत होता है* उसको चित्र-काव्य कहते हैं। वह मुख्य रूप से काव्य नहीं है अपितु काव्य की अनुकृति मात्र है। उनमें से कुछ शब्द चित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि और कुछ अर्थ चित्र जो शब्द चित्र से भिन्न, व्यंग्य संस्पर्श रहित, रसादि तात्पर्य से शून्य, प्रधान वाक्यार्थ रूप से स्थित उत्प्रेक्षा आदि होते हैं।[3]

ध्वनिकार ने चित्र काव्य को 'व्यंग्य संस्पर्श रहित, स्वीकार किया था। काव्य प्रकाशकार की भी चित्रकाव्य के सम्बन्ध में यही मान्यता रही।[4] व्यंग्य की थोड़ी बहुत स्थिति तो सर्वत्र सिद्ध की जा सकती है। इसी सम्भावना के कारण ही भामह ने वक्रोक्ति के सम्बन्ध में स्वीकार किया था कि इसके बिना कोई अलंकार हो ही नहीं सकता। इस सम्भावना को स्वीकार करते हुए ध्वनिकार ने कहा था" दीपक और समासोक्ति आदि के समान अन्य अलंकार भी प्रायः व्यंग्य—अन्य अलंकार अथवा अन्य वस्तु के संस्पर्श से युक्त दिखाई देते हैं।[5] ध्वनिकार के वचनों में यदतो

१ व्यंग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये ध्वनि संज्ञित काव्य प्रकार गुणभावे तु गुणीभूत व्यंग्यता। ध्वन्या० वृत्ति, पृ० २७५

२ ध्वन्यालोक, ३.४२

३ *ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्य रहित व्यंग्यार्थ विशेष प्रकाशन शक्ति शून्य च काव्य केवल वाच्य* वाचक वैचित्र्य मात्रा श्रयेणोपनिबद्धमालेख्य प्रख्य यदाभासते तच्चित्रम्। न तन्मुख्यं काव्यम्। काव्यानुकारो ह्यसौ। "उत्प्रेक्षादि। ध्वन्या०, पृ० २७५ हिन्दी टीका विश्वेश्वर, पृ० ४१६

४ का० प्र०, ११४

५ (अ) तथाहि दीपक समासो क्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्कारा: प्रायेण व्यंग्यालङ्कारान्तर वस्त्वन्तर संस्पर्शिनो दृश्यन्ते। ध्वन्या०, पृ० २५१

(ब) ध्वन्यालोक, पृ० २६३ यवचानारत्येव सहृदय हृदय हारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थ संस्पर्शेन सौभाग्यम्।

व्याघात् दोष का सा आभास होता है। इस आभास की समाहित स्थिति को समन्वयवादी आचार्य मम्मट ने अपने अव्यंग्यम्' पद को वृत्ति में 'स्फुट प्रतीयमानार्थरहितम्'[1] से स्पष्ट कर दिया था। कहने का तात्पर्य यह कि ध्वनि काव्य और गुणीभूत काव्य में प्रतीयमान अर्थ स्फुट रूप में विद्यमान होता है। 'अस्फुट' नामक गुणीभूत व्यंग्य काव्य के प्रसंग में भी व्यंग्य समावेश चित्र काव्य की अपेक्षा स्फुट तर होता है।

ध्वनिकार ने चित्र काव्य के दो भेद—शब्द चित्र और वाच्य चित्र अवश्य किये थे।[2] परन्तु दोनों को काव्य का एक भेद ही माना। काव्यप्रकाशकार ने भी इसको मान्यता दी।[3] परन्तु पण्डित राज ने शब्द चित्र और अर्थ चित्र दोनो भेदों का समावेश एक ही अधम कोटि में अनुचित माना।[4] कारण वाच्य, चित्र शब्द चित्र की अपेक्षा उत्कृष्ट है। यद्यपि पण्डितराज के कथन में औचित्य है परन्तु ध्वनि के आधार पर अलग भेद कल्पना करना विशेष समीचीन नहीं जान पड़ता। इस दृष्टि से दोनों भेदों को एक ही चित्र कोटि में रखना युक्ति युक्त है। यदि चमत्कार के आधार पर भेद किये जाते तो पण्डितराज की मान्यता ठीक होती। जहाँ व्यंग्य चमत्कार युक्त एवं प्रधान वहाँ उत्तम जहाँ वाच्यार्थ कोटि का अथवा उसका अंग व्यंग्य वहाँ मध्यम और जहाँ केवल व्यंग्य सत्ता मात्र चित्र काव्य माना गया। डा० भोलाशंकर ने पंडित राज का मत मान्य ठहराया है।[5] रस के आधार पर काव्य के भेद स्वीकार करने वाले आचार्य विश्वनाथ ने चित्र काव्य को काव्य की कोटि से निकाल कर बाहर फेंक दिया उन्होंने ध्वनिकार के 'उभे काव्ये' को ही ध्वनिकार की यथार्थ स्वीकृति माना। मम्मट की मान्यता की आलोचना करते हुए उन्होंने लिखा 'कोई विद्वान् चित्र नामक का तीसरा भेद भी मानते हैं। यह ठीक नहीं। अव्यङ्ग्यपद से यदि यह तात्पर्य है कि व्यंग्यार्थ से एकदम शून्य हो' तब तो वह काव्य ही नहीं हो सकता, और यदि कुछ अर्थ में 'नञ् का प्रयोग मानकर अव्यंग्य पद का अर्थ 'ईषद्व्यंग्य' माना जाय तो प्रश्न यह है कि क्या आस्वाद्य वस्तु के थोड़े व्यंग्य होने पर 'ईषद् व्यंग्यत्व' विवक्षित है अथवा अनास्वाद्य वस्तु के थोड़े व्यंग्य होने पर यदि पहला पक्ष मानो तब पहिले दो भेदो (ध्वनि और गुणीभूतव्यंग्य) में ही इसका अन्तर्भाव हो सकता है, और यदि दूसरा पक्ष मानो तो वह काव्य ही नहीं हो सकता। क्योंकि आस्वाद्यत्व ही काव्य होता है।[6]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अलंकारवादियो एवं ध्वनिवादियो द्वारा अलंकारो के उदाहरण

---

१ का० प्र०, १/४
२ ध्वन्या, ३/४३
३ का० पृ०, १/४
४ रसगंगाधर, पृ० २४
५ ध्वनि-सम्प्रदाय और उसके सिद्धान्त पृ० ३३६
६ केचिच्चित्राख्य तृतीय काव्यभेदमिच्छन्ति। तन्न। यदि हि अव्यंग्यत्वेन व्यंग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति। ईषद्व्यंग्यत्वमिति चेत्, किनामेषद् व्यंग्यत्वम्, आस्वाद्यव्यंग्यत्वम्, अनास्वाद्य व्यंग्यत्व वा। आद्ये प्राचीन भेदयोरेवान्तःपात। द्वितीये त्वकाव्यत्वम्। आस्वाद्यत्वस्व काव्यत्वम्। साहित्यदर्पण विमला टीका, पृ० २१५ २१६

स्वरूप प्रस्तुत छन्दों की परीक्षा की जाय तो काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से उन्हें मम्मट के शब्दों में चित्र ग्रथवा ग्रधम (ग्रवर) काव्य ग्रौर पण्डितराज के शब्दों में मध्यम कहना समीचीन प्रतीत नहीं होता। वे सभी गुणीभूत व्यंग्य काव्य के द भेदों म से किसी न किसी भेद मे समाविष्ट हो सकते हैं।[१] इस प्रकार ग्रधम काव्य का क्षेत्र नगण्य ही रह जाता है ग्रौर विश्वनाथ का कथन त्रुटिपूर्ण होते हुए भी बहुत ग्रसगत नही रहता है।

'ग्रलकार सर्वस्व' के प्रणेता रुय्यक ग्रौर 'चित्र मीमासा' लेखक ग्रप्पयदीक्षित भी मम्मट के ग्रनुसार काव्य के तीन ही भेद मानते हैं।

प्रस्तुत प्रबन्ध के सीमा क्षेत्र में चित्र काव्य का व्यंग्य विरहित होने से समावेश प्रसग प्राप्त नही है। इसलिए उसका विस्तृत उल्लेख भी ग्रप्रासगिक है। काव्य के शेष दो भेदों के विषय मे किसी भी ध्वनिवादी ग्राचार्य को विप्रतिपत्ति नही है। ध्वनिकार ने उन दोनो को क्रमश ध्वनि ग्रौर गुणीभूत की सज्ञा दी है[२] ग्रौर काव्यप्रकाशकार ने उत्तम ग्रौर मध्यम की।[३] पण्डित राज ने ग्रथ चित्र को मध्यम काव्य की सज्ञा देकर ध्वनि को उत्तमोत्तम ग्रौर गुणीभूत व्यंग्य काव्य को उत्तम काव्य कहा है।[४] साहित्य दर्पणकार ने ध्वनि को उत्तम ग्रौर दूसरे को गुणीभूत व्यङ्ग्य ही माना है।[५]

व्यंग्य के चारुत्व उत्कर्ष एव प्राधान्य के कारण ध्वनि को उत्तम काव्य माना गया है। ध्वनिकार, काव्यप्रकाशकार ग्रौर साहित्यदर्पणकार इस मान्यता के सम्बन्ध में एकमत हैं। पण्डितराज भी उसे उत्तमोत्तम स्वीकार करके वही बात कहते हैं।

ध्वनिकार काव्य में ध्वनि की आत्मारूप में प्रतिष्ठा करने के लिये कृतनिश्चय थे फलत उन्होंने व्यंग्य का ही विवेचन किया है ग्रौर उसी के सम्बन्ध से काव्य भेदों का यथास्थान सकेत कर दिया है। समग्र काव्य का साङ्ग विवेचन प्रसग बाह्य था। वह काव्य के सभी ग्रगों पर विचार करते तो काव्य के भेदादि का विवेचन ग्रावश्यक होता। काव्य प्रकाशकार ग्रौर साहित्य दर्पणकार काव्य का साङ्ग विवेचन करना चाहते थे। इसलिये उन्होंने ग्रपनी विवेचना काव्य परिभाषा ग्रौर उसके भेदों से प्रारम्भ की।

काव्य प्रकाशकार ने उत्तम काव्य का लक्षण इन शब्दों मे दिया है

इदमुत्तममतिशयिनि व्यंग्ये वाच्याद् ध्वनिबुधै कथित ।

इस लक्षण म 'इदम्' पद काव्य के लिये है ग्रौर उत्तम पद उसकी सज्ञा है। इस उत्तम काव्य को काव्य शास्त्र के पण्डित ध्वनि भी कहते हैं। इसमे व्यंग्य वाच्य की ग्रपेक्षा ग्रतिशायी (ग्रधिक चमत्कारयुक्त ग्रौर प्रधान) होता है। विश्वनाथ की भी यही मान्यता है।

मम्मट ने ग्रपने लक्षण का निर्माण काव्य को ध्यान में रखकर किया था ग्रौर साहित्य दर्पणकार ने व्यंग्य ग्रर्थ को ध्यान म रखकर।

---

१ हि० री० प्र० ग्राचार्य, पृ० १८८
२ ध्वन्या०, ३, ३४, ३५
३ का० प्र०, १/२ ३
४ रसगगाधर, पृ० ११
५ सा० द०, ३/१३

यह उत्तम काव्य का लक्षण है, मात्र काव्य का नहीं है। रीतिकाल के आचार्य सूरति मिश्र ने अपने ग्रन्थ काव्य प्रकाश मे उत्तम का लक्षण इस प्रकार किया है

वाच्य अरथते जहँ अनत सुन्दर व्यग्य प्रधान।
अरथ चमत्कृत पद ललित उत्तम काव्य सुजान।

जिस काव्य मे वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यग्य सुन्दर, प्रधान और चमत्कार युक्त होता है और जिसमें ललित पदो का प्रयोग होता है वह काव्य उत्तम है। व्यग्य अर्थ के तीन विशेषण दिये गये हैं, सुन्दर, प्रधान और चमत्कृत। इनमे सुन्दर से रस, प्रधान से वाच्य की अपेक्षा मुख्यता और चमत्कार से भी वस्तु तथा अलकार व्यग्य ग्रहण कर लें तो उत्तम काव्य का लक्षण पूर्ण सगत सिद्ध होता है।

आचार्य हरिचरणदास ने उत्तम काव्य का लक्षण इन शब्दो मे किया है

जहाँ वाच्यतें रहत है अधिक चमत्कृत व्यग।
ताही सौं ध्वनि कहत सो उत्तम काव्य प्रसग।

यह लक्षण भी पूर्ण और वैज्ञानिक है। उत्तम काव्य का उदाहरण यह है

छोर को राग छुट्यौ कुच कौं, मिटिगो अधरा रग देख्यौ प्रकासहि।
अजन गौ दृग-कजनि ते, तनु पपत तेरो रुमच हुलासहि।
नेकु हितू जन को हित चीन्हौ न कीन्हौ अरी मन मेरो निरासहि।
बावरी! बावरी तू न्हान गई प तहाँ न गई उहि पीउ के पासहि॥

नायिका ने दूती को नायक के पास भेजा था वह नायक से उपभुक्त होकर लौटी है। नायिका दूती के वेश विन्यास व्यतिक्रम से उसकी चोरी को पहिचान गई। वह वाच्यार्थ मे उससे बावडी स्नान की बात कह रही है परन्तु 'तहाँ न गई उहि पीउ के पासहि' से यह व्यग्य है कि तू उसके पास सुरत हित अवश्य गई। सवैया के तृतीय पद से नायिका के क्रोध की भी व्यजना स्पष्ट है। यह सवैया काव्यप्रकाश के उत्तम काव्य के उदाहरण का सफल अनुवाद है। काव्यप्रकाश के 'प्रथम पद को निकालकर आचार्य कवि ने छन्द का व्यग्य चमत्कार अधिक बढा दिया है। बिहारी सतसई से उत्तम काव्य का यह उदाहरण दिया जा सकता है।

पूस मास सुनि सखिन सौं साई चलत सवार।
गहि कर बीन प्रबीन तिय राग्यौ राग मलार।

पूस मास की वर्षा मे यात्रा का निषेध है। अकाल वृष्टि मे यात्रा नहीं करनी चाहिए इसलिये नायिका ने मल्हार राग गाया जिससे वर्षा हो, और नायक यात्रा स्थगित कर दे। कालचेष्टावशिष्ट्य से यही व्यग्य है।

ध्वनिकाव्य के भेद—उत्तम काव्य के लक्षण और उदाहरण परीक्षा के बाद उसके भेदो पभेदो के लक्षण और उदाहरणो की परीक्षा आवश्यक है। ध्वनिकार ने काव्य को प्रथम दो भागो म विभक्त किया है

(1) अविवक्षितवाच्यध्वनि और (२) विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि। काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार ने भी ये ही दो भेद स्वीकार किये हैं।

उपर्युक्त दोनो भेदो मे अविवक्षितवाच्य ध्वनि का प्रसग सक्षिप्त और सीमित है इसलिय प्रथम उसी का विवेचन किया गया है। यही परिपाटी सभी आचार्यों ने अपनाई है। इसमें शब्द को

प्रधानता रहती है, अर्थ की तो केवल इसमें सहकारिता रहती है। लक्षणामूला व्यजना इसका आधार है। इसमे केवल वस्तु ध्वनि ही होती है। इसमें अलकार ध्वनि और रस ध्वनि का समावेश नही हो पाता है। वस्तुत ये ही दोनो व्यग्याथ वस्तु व्यग्य की अपेक्षा रमणीय हैं। अत विवक्षिता न्यापरवाच्य की अपेक्षा अविवक्षितवाच्य ध्वनि न्यूनचारुत्ववाली है। इसका एक कारण और भी है। लक्षणामूला में लक्षणा के सहकारी हेतुओ—मुख्यार्थ बाध आदि की स्थिति रहती है। फलत अविवक्षितवाच्य ध्वनि से वस्तुव्यग्य तक पहुँचने के लिये बुद्धि को प्रयास करना पड़ता है और हृदय की वृत्तियाँ उस क्षण में निष्क्रिय सी रहती हैं। इसलिये अविवक्षितवाच्य ध्वनि का भग होते हुए भी उस कोटि को नही पहुँच पाती जिसको विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि पहुँचती है।

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के दो भेद माने गये हैं[1] अर्थान्तर सक्रमित वाच्य और[2] अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य[1]।

पद और वाक्य भेद से ये दोनो पुन दो दो प्रकार के होते हैं

'अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्य प्रकाशता' —ध्वन्या ३ १

काव्य प्रकाशकार ने भी 'पादेऽप्यन्ये' और साहित्य दपणकार ने तदन्येपदवाक्ययो कहकर ध्वनिकार की बात को दुहरा दिया है। इस प्रकार अविवक्षित वाच्य ध्वनि के चार भेद हो गये (१) पदगत अर्थान्तर सक्रमित वाच्य, (२) वाक्यगत अर्थान्तर सक्रमित वाच्य, (३) पदगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य और (४) वाक्यगत अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

अविवक्षित वाच्य—अविवक्षित वाच्य ध्वनि मे लक्षणामूला व्यजना रहती है। लक्षणा मूला से तात्पय यह है कि वाच्यार्थ प्रतीति के पश्चात् लक्षणा का प्रसग उपस्थित होता है और तब प्रयोजन के फल मे व्यजना को अवकाश मिलता है। इसकी वस्तु ध्वनि के कारण ही ध्वनि विरोधी आचार्यों को ध्वनि का लक्षणा, अनुमान आदि म अन्तर्भाव करने का उत्साह जाग्रत हुआ था।

अर्थान्तरसक्रमित वाच्य जसा कि उसके अथ से स्पष्ट है म मुख्याथ का पूणतया तिरोधान नही होता अपितु उसका अपने विशेष रूप अर्थान्तर में सक्रमण होता है। अर्थान्तर-सक्रमित वाच्य म अजहत्स्वार्था लक्षणा होता है। परन्तु अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य जसा कि उसके शाब्दिक अथ से स्पष्ट है मे मुख्याथ का पूणतया तिरस्कार हो जाता है। इसम जहत्स्वार्थालक्षणा का आधार होता है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि के उपयुक्त विवरण मे उल्लिखित निष्कर्षों को पाठकों की सरलता के लिये इस प्रकार रखा जा सकता है

१—अविवक्षितवाच्य ध्वनि का आधार गूढ़व्यग्या लक्षणा होता है।

२—ध्वनि के इस भेद में सवदा वस्तुध्वनि ही रहती है। इसमे रस भाव और अलकार ध्वनि नही रहती है, फलत इसमें विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि की रमणीयता और चारुता नहीं होती है।

---

१ अर्थान्तरेसक्रमितमत्यन्तवा तिरस्कृतम्
अविवक्षित वाच्यस्य ध्वनेर्वाच्य द्विधामतम्—ध्वन्या० २-१

३—अविवक्षित वाच्य ध्वनि के मुख्य दो भेद हैं—(१) अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य। इनमें अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य का आधार अजहत्स्वार्था अथवा उपादान लक्षणा होती है और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का आधार जहत्स्वार्था।

४—लक्षणा का सम्बन्ध प्राय शब्द से ही रहता है किन्तु जब एक ही वाक्य में एक से अधिक पद अथवा पद समूह लक्षक होता है तो उसको वाक्यगत लक्षणा माना जाता है। इसका विशेष विवरण द्वितीय अध्याय में दिया जा चुका है।

अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का लक्षण एक रीतिकालीन आचार्य ने इस प्रकार दिया है —

अर्थ अनर्थक भासिकै और अर्थ में जाइ।
ताहि अर्थ मिलि सार्थता अर्थान्तर सुलपाइ।[२]

इस लक्षण के तीन भाग हैं (१) अर्थ अनर्थक भासता है (२) उसी अर्थ की सहायता से सार्थकता होती है और (३) वह अर्थ अन्य (और) अर्थ मे जाता है। इन तीनो का सामूहिक अर्थ यह है कि वाक्य अपने विशेष रूप में परिणत हो जाता है। लक्षण पूर्ण और संगत है। अर्थान्तर संक्रमित वाच्य का उदाहरण यह है

महदी बुन्द सुसदमन लेत लाल को बाल।
काहे कों तू करत है मान कपट को जाल॥

उपादान लक्षणा वहाँ होती है जहाँ कोई वाच्यार्थ अपनी सिद्धि के लिए औरो का आक्षेप करले। जैसे 'गोली चली' वाक्य में गोली वाच्यार्थ सिद्धि के लिए गोली चलाने वाले व्यक्ति का आक्षेप करना पड़ता है। इसे कोई-कोई आचार्य अजहत्स्वार्था लक्षणा भी कहते हैं। अर्थान्तर संक्रमित वाच्य में अजहत्स्वार्था लक्षणा ही रहती है। उपर्युक्त उद्धरण मे 'महँदी बुन्द' पद से महँदी युक्त नायिका का बोध होता है। बाला नायिका का महँदी बूँदों से युक्त करपल्लव नायक के मन को अत्यन्त आकर्षक लगता है। यह अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य की पदगत ध्वनि का उदाहरण है। इसका दूसरा उदाहरण भी द्रष्टव्य है

सुन्दर गुन मन्दिर रसिक, पास खरो बृजराजु।
आली कौन समान है, मान ठानिबो आजु॥

मानिनी नायिका को समझाती हुई सखी कहती है कि हे सखि अत्यन्त गुणी एवं रसिक नायक यहाँ एकान्त में तेरा मानापनोद करने के लिए तेरे समीप ही प्रस्तुत है फिर भी आज मना करने में कौनसा समानापन है ? 'आज' पद अपना कालवाचक अर्थ देते हुए भी एकान्त आदि समय विशिष्ट में संक्रमित होता है।

अर्थान्तर-संक्रमित वाच्य का वाक्यगत उदाहरण यह है —

गजकर गजकर हो रहा कदली कदली दीन।
प्यारी के उरु युगल की समता में सब हीन॥

अर्थान्तिर संक्रमित वाच्य ध्वनि पदगत और वाक्यगत उदाहरणों को प्रस्तुत करने के पश्चात् अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य का पदगत उदाहरण नीचे दिया जा रहा है

भाल भ्रुकुटि लोचन अधर, हिये हिये की भाल।
दसा द्विगुनिर्मा ओर को, सखि सिरात दृग लाल॥

यह खण्डिता की उक्ति है । प्रियतम रात्रि निवास अन्यत्र करके आया है । सपत्नी के साथ सयोग के अनेक प्रकट एव अप्रकट लक्षण देखकर अपकृता खण्डिता कहती है । 'हे लाल ! आपके हृदय की माला, छिगुनियों के छला आदि को देखकर मेरे दृग शीतल हो रहे हैं ।' प्रकरण से शीतलता का वाच्यार्थ व्यर्थ होकर विपरीत अर्थ जलने मे परिणत हो जाता है ।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य का वाक्यगत ध्वनि का उदाहरण

कौन गुन गुन रावरे के सब दीनन को परिताप हरौजू ।
मेरो जितो कछु काज करो सो करो नित ही मति ऐसी करौजू ।
श्री पति प्रेम तरोवर जानिकै भ्रासिव देति हों फूला करौजू ।
जीवो करौं जुगलों हित को सुख दी वो करो जसलोवो करौजू ।।

अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि की वाक्य व्यञ्जकता का उदाहरण ध्वन्यालोक में गीता का 'यानिशा सर्वभूताना वाला श्लोक दिया गया है । काव्यप्रकाश और साहित्यदर्पण मे एक ही छन्द दिया गया है जो किसी अपकृत की अपकारी के प्रति उक्ति है । उसमे विपरीत लक्षणा से स्तुति निन्दा मे परिणत होती है । रीति कालीन आचार्यों म से कई एक ने उसी का अनुवाद किया है अथवा उसी छाया पर विपरीत लक्षणा का कोई अन्य उदाहरण दिया है । काव्यसरोज के इस उदाहरण म काव्य प्रकाश के ही उदाहरण की छाया है । अपकृत के मुख से अपकारी की यह स्तुति वस्तुतः निन्दा म परिणत हो जाती है ।

विवक्षितवाच्य—

उत्तम काव्य अथवा ध्वनि काव्य के प्रथम भेद अविवक्षितवाच्य के चारो भेदो का विवेचन हो चुका अब विवक्षितवाच्य ध्वनि का विवेचन प्रसग प्राप्त है । जैसा पहले कहा जा चुका है अविवक्षित वाच्य का आधार गूढ व्यग्या लक्षणामूला व्यञ्जना है । प्रयोजनवती लक्षणा के *व्यग्यबोध की दृष्टि से दो भेद स्वीकारे गये हैं—१ अगूढ व्यग्या लक्षणा और गूढव्यग्या* लक्षणा । इनमे उत्तम काव्य के अविवक्षित वाच्य का आधार गूढव्यग्या लक्षण है और गुणीभूत व्यग्य का आधार अगूढ व्यग्या लक्षण । अगूढ व्यग्या पर आधृत व्यग्य प्रधान नही होता है इसीलिए आचार्यों ने उसे गुणीभूत व्यग्य म स्थान दिया है । विवक्षितवाच्य ध्वनि का आधार अभिधामूला व्यजना है । व्यजना-व्यापार के व्यावहारिक स्वरूप का विवेचन करते समय शाब्दी व्यजना के दो भेद किये गये थे । अभिधामूला और लक्षणामूला । अभिप्राय यह कि आर्थी व्यजना का क्षेत्र तो केवल अभिधामूला का क्षेत्र है अतएव उसमे विभाजन की आवश्यकता ही नही पडी *किन्तु शाब्दी के प्रसग लक्षणामूला के साथ अभिधामूला का क्षेत्र और सम्मिलित है इसलिए उसको* दो भेदो मे विभक्त कर उसम सम्मिलित अभिधामूला का क्षेत्र स्पष्ट कर दिया है । विवक्षित वाच्य का आधार जो अभिधामूला व्यजना कही गई है उसम शाब्दी अभिधामूला और आर्थी व्यजना दोनों सम्मिलित हैं ।

अविवक्षित वाच्य को दो भागो मे विभक्त किया गया है । उसम विभाजन का आधार यद्यपि व्यग्यार्थ प्रतीति है किन्तु वह लक्षणा के दो भेदो से अलग अलग सम्बद्ध होने के कारण भिन्न सी लगती है । स्पष्टत उसमे विभाजन का आधार लक्षणा जान पडती है । विवक्षितवाच्य म विभाजन का आधार स्पष्टत व्यग्यार्थ प्रतीति है । जहाँ अभिधेय से लेकर व्यग्यार्थ-बोध तक प्रतीति मे क्रम परिलक्षित होता है उसे सलक्ष्यक्रम व्यग्य और जहाँ अभिधेय के बोध के पश्चात

व्यंग्यार्थ प्रतीति इतनी शीघ्र होती है कि क्रम का अभाव सा जान पडता है उसे असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य माना जाता है। क्रम तो इस प्रतीति म भी रहता ही है किन्तु बुद्धि उस क्रम को पकड नही पाती है। बिजली के लटठों पर लगे बल्ब एक के बाद दूसरा जलता है, यह निश्चित है किन्तु बिजली गति तीव्र होने के कारण देखने वाले को सभी बल्ब एक साथ जलते स जान पडते हैं। यही स्थिति असंलक्ष्यक्रम व्यंग्य के क्रम के सम्बन्ध म समझनीचाहिए।

यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जब आचार्यों ने क्रम के परिलक्षित होने के आधार पर विवक्षितवाच्य के भेद किये हैं तो उन्होने इस आधार पर ही उत्तम काव्य के भेद क्यो नही किये? इस प्रकार भेद करने पर अविवक्षितध्वनि भी लक्ष्य क्रम व्यंग्य मे स्थान पा जाता है। यह सत्य है कि अविवक्षित वाच्य ध्वनि का समावेश संलक्ष्य क्रम व्यंग्य म किया जा सकता है क्योंकि उसम सर्वप्रथम अभिधा से वाच्य का बोध होता है, तत्पश्चात उसकी अनुपपन्नता का बोध होता हैं, उसके बाद उसके योग के द्वारा अन्य अर्थ की प्रतीति, और अन्त म लक्षणा के प्रयोजन के फल का बोध होता है। इस प्रकार अविवक्षितवाच्य ध्वनि मे स्पष्ट क्रम विद्यमान है। परन्तु अविवक्षित वाच्य तथा विवक्षितवाच्य संलक्ष्यक्रम व्यंग्य मे जो क्रम के लक्षित होने के आधार पर एक ही वर्ग मे सन्निविष्ट हो जाते हैं एक मौलिक भेद बना रहना। उनमे से अविवक्षितवाच्य मे लक्षणा व्यंग्यनिष्ठ होती और विवक्षितवाच्य मे अभिधा अर्थात् संलक्ष्यक्रम व्यंग्यता की छोटी सी समानता रहने पर भी शक्ति भेद की भिन्नता बनी रहती। इसलिए आचार्यों ने पहले व्यंग्यनिष्ठता के आधार पर अभिधामूला और लक्षणामूला भेद कर दिये। उसके पश्चात क्रमलक्षिता के आधार पर विभाजन किया। रस मे वाच्य बोध से रस बोध तक क्रम भी विद्यमान है परन्तु उसमे बुद्धि का माध्यम अनायास बोध के कारण अकिञ्चनता को प्राप्त कर लेता है और हृदय को भाव म रमने का पूर्ण अवसर प्राप्त हो जाता है। अनायास बोध के कारण ही क्रम रहते हुए भी प्रतीत नहीं होता। वस्तु ध्वनि और अलंकार ध्वनि रस ध्वनि की अपेक्षा निम्न कोटि की मानी गई है। कारण इनमें बुद्धि को व्यंग्य बोध मे योग देना पडता है और उस बोध से ज्ञानचारिणि म ही वृद्धि होती है, हृदय की मुक्त दशा की प्राप्ति मे योग नही मिलता। इसलिए रस ध्वनि वस्तुध्वनि और अलंकार ध्वनि से उत्कृष्ट सिद्ध की गई है। रस ध्वनि मे वाच्यार्थ बोध से व्यंग्यार्थ बोध तक में बोध पक्ष शान्त सा हो जाता है और अन्य ध्वनियों में बोध पक्ष सक्रिय रहता है। इसी तथ्य को स्पष्ट करने के लिए आचार्यों ने अभिधामूला के असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य और संलक्ष क्रम व्यंग्य भेद किये हैं।

असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य विवेचन—असंलक्ष्यक्रम म रसादि के आठ रूप ग्रहण किये गये हैं। वे ये हैं (१) रस (२) भाव (३) रसाभास (४) भावाभास (५) भावशान्ति (६) भावोदय (७) भावसन्धि (८) और भावशबलता। जिन आठ रसादि का उल्लेख किया गया है वे काव्य के अङ्गी हैं। ये ही अलंकार्य हैं। ये ही काव्य का मुख्य अर्थ है।[1] इसके विभावानुभाव व्यभिचारी के प्रतिपादन भेद से अनेक भेद हो सकते हैं। पुन इनके अङ्गीभूत अर्थ तथा शब्द के आश्रित उपमादि

१—रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रम ।
 भिन्नोरसाद्यलङ्कारादलंकार्य तया स्थित । का० प्र०, ४।२६
 रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रम
 ध्वनेरात्माङ्गि भावेन भासमानो व्यवस्थित । ध्वन्यालोक, २।३

एव अनुप्रासादि अलकारो के सयोग से अपरिमित भेद होने की सभावना है। एक एक अङ्गी रस भाव के ही उपयुक्त विधा के अनुसार अनेक भेद सम्भव हैं। जसे अङ्गी शृङ्गार के, प्रारम्भ में दो भेद होते हैं, *सम्भोग और विप्रलम्भ। उनम भी सम्भोग के परस्पर प्रेम दशन,* सुरत और विहारादि भेद हैं। इसी प्रकार वियोग के भी अभिलाप ईर्ष्या, विरह, प्रवास और शापादि निमित्तक भेद हैं। उनमें से प्रत्येक भेद के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि के भेद हैं। उन विभावादि मे भी देश, काल, आश्रय, अवस्था, आदि भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदो के कारण एक शृङ्गार के भेद गिनना ही असम्भव है फिर भेदोपभेद के मिश्रण से भेदो की गणना करना तो दूर की बात है[१]। इस प्रकार रसादि के अनन्त भेद हो सकते हैं।[१] इस सभावना के कारण इनका एक भेद ही स्वीकार किया जाता है।[२]

रीति काल के आचार्यो ने रस आदि का विस्तृत निरूपण किया है इसलिए इस सीमित प्रबन्ध मे उन सबके लक्षण एव उदाहरणो की समीक्षा यदि प्रासगिक भी स्वीकार करली जाय तो भी व्यावहारिक नही है।

सस्कृत के ध्वनिवादी आचार्यों ने रस को काव्य का अङ्गी अथवा मुख्य अर्थ स्वीकार किया है।[3] उन्होने रस, असलक्ष्य क्रम व्यग्य के सम्बन्ध म एक बात एक स्वर से स्वीकारी है। वह है रस की नित्य व्यग्यता।

ध्वनिवादी आचार्यों ने रस की व्यग्यता के कारण ही उसका ध्वनि का एक भेद स्वीकार किया है। रसको ध्वनि का भेद मानने मे आनन्दवधन का प्रधान तक यह है कि रस की प्रतीति अथवा अनुभूति अभिधा के द्वारा नही होती है अपितु व्यञ्जना के द्वारा होती है। अत रसादि को वाच्य स्वीकार नही किया जा सकता है वे व्यग्य ही हैं।[४] रसादि चित्तवृत्ति स्वरूप है।[५] चित्तवृत्ति को अनावृत करने की शक्ति व्यञ्जना में ही है।[६] इस सम्बन्ध में एक प्रमाण तो यह है कि जिस रचना मे विभावादि की परिपक्व सामग्री का अभाव है उसमें रस, भाव, विभावादि अथवा इनके विभिन्न भेदा म से किसी एक का नामोल्लेख मात्र कर देने से रस की थोडी भी प्रतीति नही होती है।[७] उदाहरण के लिए —

(क) उस मृगाक्षी को देखकर हमें कोई विचित्र रस उत्पन्न हो गया।

(ख) इस चन्द्र मण्डल को देखकर हमारा मन शृ गार म मग्न हो गया।

---

१ तस्याङ्गाना प्रभेदा स्वगताश्च ये।
तेषामानन्त्य मन्यो य सम्बन्ध परिकल्प ने। ध्वन्या०, २/१२ ध्वन्यालोक २/१२ की वृत्ति।

२ रसादीना मनन्तत्वाभेद एकोहि गण्यते। का० प्र०, ४/४७ वत्ति।

३ रसश्चमुख्य, । काव्य प्रकाश० ७/१

४ रसादिलक्षण प्रभेदो वाच्य *सामर्थ्याक्षिप्त प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्द-व्यापार* विषय इतिवाच्याद विभिन्न एव। ध्वन्या० १/४ वत्ति

५ व्यक्तिश्चानावणा चित्। रसगगाधर

६ नहि केवल शृङ्गारादिशब्द मात्र भाजि विभावादि प्रतिपादन रहिते काव्ये मनागपि *रसवत्त्व प्रतीतिरस्ति। ध्वन्या०, १/४ वत्ति।*

७ हिन्दी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य पृ० २७६

(ग) तुझे देख लेने पर उसमें रति उत्पन्न हो गई।
(घ) प्रिय के चुम्बन करने पर वह मुग्धा लज्जावती हो गयी।

इन वाक्यों मे रस, शृंगार, रति और लज्जा शब्दो का उल्लेख होने पर भी अलौकिक चमत्कारजनक रसादि की अनुभूति नही होती है।[1] यदि रस, भाव, विभाव आदि के नामोल्लेख-मात्र से रस की प्रतीति सम्भव थी ऊपर के वाक्यो मे उसकी प्रतीति अवश्य होती पर तु उनसे वसी रस, भाव आदि की प्रतीति नही होती है। इसके विपरीत इस प्रकार के रस, भाव आदि के नामोल्लेख से स्वशब्द वाच्यत्व दोष और आ जाता है।[2] वास्तव मे स्थायी, सचारी और विभावादि के स्वशब्द प्रयोग की आवश्यकता का उल्लेख उद्भट ने किया था। उसको ध्वनिवादियो न दोष मान लिया। रस की अनुभूति विभावादि की सयुक्त (विशिष्ट) सामग्री के व्यञ्जना से ही होती है। उनके अभिधा प्रतिपादित अथ से भी रसादि की प्रतीति नहीं होती है। रस तो आक्षिप्त ही होता है। रस की व्यग्यता के कारण ही महिमभट्ट उसका अनुमान में अन्तर्भाव न कर सके। वस्तु ध्वनि का अ तर्भाव तो खीचतान कर किया भी जा सकता है पर तु रस ध्वनि तो चित्तवृत्ति रूप होने के कारण व्यञ्जना के द्वारा ही अनावृत होती है। आनन्दवधन ने तो रस की व्यग्यता का सकेत ही किया था, परन्तु मम्मट ने ध्वनि विरोधियों के प्रदत्त तथा सम्भावित तर्कों की उद्भावना करके उनका सप्रसग खण्डन करके रस को व्यग्य प्रतिपादित किया। रीतिकालीन सभी आलोच्य आचार्यों ने रस को व्यग्य स्वीकार किया है। उसकी व्यग्यता की ओर सकेत दो एक आचार्यों ने ही किया है।

आनन्दवधन ने भावध्वनि को शब्दशक्त्युत्थ सलक्ष्य क्रम व्यग्य के अन्तगत भी स्थान दिया है। उन्होने कुमार सम्भव का यह श्लोक उदाहरण स्वरूप दिया है —

एव वादिनी देवर्षो पार्श्वे पितु रधो मुखी।
लीला कमल पत्राणि गणयामास पार्वती॥

देवर्षि नारद के ऐसा कहने (पार्वती के साथ विवाह की शिव द्वारा सहमति प्रकट करने) पर पिता के पास बैठी हुई पार्वती मुँह नीचा करके लीला कमल की पखुड़ियाँ गिनने लगी।'

यहाँ लीला कमल के पत्रों की गणना गौण होकर शब्द व्यापार बिना ही व्यभिचारीभाव (लज्जा) को अभिव्यक्त करती है। बोधपक्ष की दृष्टि से प्रथम लीला कमल की गणना के शब्द व्यापार का बोध होता है। उस अथ बोध के पश्चात् लज्जा व्यभिचारी भाव की अभिव्यक्ति होती है।[3] कहने का तात्पय उसमें क्रम स्पष्ट रूप से विद्यमान है। इससे यह निष्कर्ष निकला कि रसादि का असलक्ष्यक्रम व्यग्य होना अनिवार्य नहीं है। वे अथ शक्त्युत्थ सलक्ष्य क्रम व्यग्य ध्वनि से भी प्रतीत होते हैं। असलक्ष्य क्रम में भी अत्यन्त सूक्ष्म ही सही क्रम तो रहता ही है।

रस निष्पत्ति का उल्लेख यहाँ नहीं किया जाता है। कारण यह स्वतन्त्र विषय है और इसके विवेचन के लिए हिन्दी मे रस सिद्धान्त जसे कई ग्रन्थो की रचना हो चुकी है। किन्तु रीतिकाल के

१ व्यभिचारिरस स्थायिभावाना स्वशब्द वाच्यता—काव्य प्रकाश,
२ रसवद्दर्शित स्पष्ट शृङ्गारादि रसोदयम्
स्वशब्द स्थायि सचारि विभावाभिनया स्पदम्। का० सा० स०, ४/३
३ ध्वन्यालोक, २/२२ की वृत्ति

आचार्य भिखारीदास ने रस सारांश नामक अपने एक अन्य ग्रन्थ में दास ने रस की अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में एक सुन्दर रूपक प्रस्तुत किया है। वह छन्द यह है —

जाये नृप मन के बयालीस विचारि देखो, थाई विभिचारी सब तैंतीस बखानिये।
थाई बढि निजर जवानी कियौ मानस में, रस कहवायो विभिचारी सगी जानिये॥
रजधानी श्रालम्बन सम्पति उद्दीपता को, चिन्हिव को लच्छन को अनुभाव मानिये।
कोऊ रच भूषन या सौं कोऊ बिना भूषनहि, कवि को तिन्ह के चितेरे पहिचानिये॥

सक्षेप म यह रूपक यह है—आलम्बन नामक राजधानी मे मन नामक नृप निवास करने लगता है। इस राजा के बयालीस पुत्र हैं जिनमे से तैंतीस सर्वदा इतस्तत घूमने फिरते हैं इसलिए उनको सचारी सज्ञा दी जाती है और जो नौ सदा राजधानी मे ही निवास करते हैं उनको स्थायी नाम दिया जाता है। जब कुछ सचारी राजकुमार राजधानी मे लौटकर किसी स्थायी राजकुमार से मिल जाते हैं तो उनको रस युवराज की पदवी मिल जाती है। राजपुत्रों के पास उद्दीपन विभाव नामक सम्पत्ति है। इनकी पहिचान अनुभावों द्वारा होती है। इन राजपुत्रों मे से कभी कोई राजकुमार आभूषण उपमादि धारण कर लेता है और कभी बिना आभूषण के ही प्रकट होता है। कवि लोग इन राजकुमारों के चित्रकार हैं।

रीतिकाल के एक अन्य आचार्य हरिचरणदास ने रस के स्वरूप का भी एक दोहे म उल्लेख किया है। सक्षेप म उन्होंने ध्वनि के प्राचीन सस्कृत आचार्यों की मान्यता का सुन्दर निबन्धन किया है इसलिए वह पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दिया जा रहा है —

रोध करन सुख करत को जो सुख और काम।
आदि विभावन सौं मिल्यौ सो रस है अभिराम॥

इस दोहे मे 'करन' का अर्थ इन्द्रिय है। रस निष्पत्ति काल म सामाजिक अथवा पाठक को इन्द्रियों के अपने अपने कार्य व्यापारों को अवरुद्ध करता है और मन इन्द्रिय को परनिवृत्ति जैसा सुख प्रदान करता है। विभिन्न रसों के उदाहरण भी सरलता से अन्यत्र मिल सकते हैं इसलिए उनका भी उल्लेख नहीं किया गया है।

सलक्ष्य क्रमव्यग्य विवेचन —

विवक्षित वाच्य ध्वनि का दूसरा भेद सलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि है। घण्टे के बजने पर प्रथम ध्वनि होती है। सर्व प्रथम यह ध्वनि श्रोता के कानों मे पडता है तत्पश्चात् धीरे धीरे विलीन होती हुई अनुरणन रूप प्रतिध्वनि सुनायी देती रहती है। इस अनुरणन में एक क्रम होता है। इसको अनुरणन अनुस्वान आदि नामो से पुकारा जाता है। जिस प्रकार घण्टे की प्रथम ध्वनि के पश्चात् श्रोता को उसका अनुरणन सुनायी पडता रहता है उसी प्रकार पाठक को वाच्यार्थ के बोध के पश्चात जिसे व्यग्यार्थ की प्रतीति वैसे ही पूर्वापर क्रम से होती रहती है उसे सलक्ष्यक्रम व्यग्य कहते हैं। इसम वाच्यार्थ व्यग्य निष्ठ होता है। वाच्यार्थ बोध के पश्चात व्यग्यार्थ बोध होता

१ वेद्यान्तर शून्या परिमित भावेन पुरइव परिस्फुरन् हृदयमिव प्रविशन् सर्वाङ्गीण मिवालिङ्गन्—का० प्र० अभिनव वामन पृ० ४६

है। ये दोनों स्थितियाँ बोध स्वरूप ही होती हैं। इन पर भावना का रंग कम चढ़ पाता है। संलक्ष्यक्रम व्यंग्य बोध तीन प्रकार का होता है रसादि बोध, अलंकार बोध और वस्तु बोध संलक्ष्य क्रम व्यंग्य रसादि का बोध परगतत्व रूप से होता है, पाठक द्रष्टा के रूप में रहता है। इस रसादि से पाठक की भावना का वह तादात्म्य नहीं हो पाता जो असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य में होता है, उसमें भावना पक्ष प्रबल हो जाता है। इसीलिए इसे रसादि बोध माना है। अनुभूति और बोध में थोड़ा अन्तर है। अनुभूति में हृदय की द्रुति विप्रलम्भ करुण और शान्त में, दीप्तिवीर, रौद्र और भयानक में और विस्तृति प्रायः सभी रसों में, का प्रसंग रहता है और बोध में ज्ञान के विस्तार का, जानकारी के एक नये रूप का।

यह संलक्ष्य क्रम तीन प्रकार का माना गया है —(१) शब्द शक्त्युत्थ, (२) अर्थ शक्त्युत्थ और (३) शब्दार्थ शक्त्युत्थ। इनमें से शब्द शक्त्युत्थ ध्वनि में शब्द परिवृत्त्यसह होता है। इसीलिए उसे शब्द शक्त्युत्थ स्वीकार करते हैं। यह पहिले स्वीकार किया जा चुका है कि शब्द के व्यञ्जक होने पर अर्थ की सहकारिता बनी रहती है और अर्थ के व्यञ्जक होने पर शब्द की सहकारिता रहती है। यह एक शंका उठती है कि व्यञ्जना वृत्ति के विवेचन प्रसंग में उसके दो विभाग किये गये एक शाब्दी व्यञ्जना और दूसरी आर्थी व्यञ्जना। यहाँ आकार व्यंग्य के दो भेद किये— लक्षणामूलक और अभिधामूलक। यदि शाब्दी व्यञ्जना को लक्षणामूला स्वीकार किया जाता है तो अभिधामूलक संलक्ष्य क्रम व्यंग्य में अर्थ की व्यञ्जकता का ही प्रसंग शेष रहना चाहिए उसमें शब्द की व्यञ्जकता के प्रसंग का समावेश उचित प्रतीत नहीं होता है।

आचार्य मम्मट तथा विश्वनाथ ने संलक्ष्य क्रम व्यंग्य के तीन भेद स्वीकार किये हैं (१) शब्दशक्त्युद्भव, (२) अर्थ शक्त्युद्भव और (३) शब्दार्थ शक्त्युद्भव। इनमें शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम ध्वनि के पुनः दो भेद होते हैं (१) वस्तु ध्वनि और (२) अलंकार ध्वनि। ये दोनों भेद पद और वाक्य की व्यञ्जकता के भेद से दो दो प्रकार के होते हैं। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम ध्वनि के चार भेद हो गये। इन्हीं आचार्यों के अनुसार अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम के प्रमुख तीन भेद हैं (१) स्वतः सम्भवी, (२) कवि प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध और कवि निबद्धवक्तृ प्रौढ़ोक्ति मात्र सिद्ध। ये तीनों भेद पुनः चार चार प्रकार के होते हैं—वस्तु से अलंकार व्यंग्य, वस्तु से वस्तु व्यंग्य अलंकार से वस्तु व्यंग्य और अलंकार से अलंकार व्यंग्य। इस प्रकार अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम ध्वनि के बारह भेद हो गये। ये बारहों भेद फिर पद, वाक्य और प्रबन्ध की व्यञ्जकता की दृष्टि से तीन तीन प्रकार के हैं। इस प्रकार अर्थ शक्त्युत्थ ध्वनि के कुल छत्तीस भेद होते हैं। शब्दार्थ शक्त्युत्थ ध्वनि का केवल एक भेद होता है, वाक्यगत। इस प्रकार संलक्ष्य क्रम ध्वनि के कुल भेद मिलाकर ४१ हुए।

पण्डितराज इन ४१ भेदों के स्थान में केवल उनतीस भेद स्वीकार करते हैं उन्हें कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध भेद को स्वीकार नहीं करते। उनका कथन है कि कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्ति तो प्रकारान्तर से कवि प्रौढ़ोक्ति ही है इसलिए कवि निबद्ध पात्र प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध भेद स्वीकार करना निरर्थक है।[1] पण्डितराज का यह कथन ध्वन्यालोककार के अनुकूल है। ध्वन्यालोककार ने एतत्सम्बन्धी मत निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है —

"वस्तु अथवा अलंकार का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतः सम्भवी तथा प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध प्रकार से दो प्रकार का होता है।[2] उन्होंने अपनी कारिका की वृत्ति इस बात को पुनः दुहराया है। उनके ये शब्द विचारणीय हैं:—

"अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यग्य ध्वनि मे जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो भेद होते हैं। एक कवि अथवा कवि निबद्ध वक्ता की प्रौढ़ोक्तिमात्र से सिद्ध और दूसरा स्वत सम्भव।

'कवे कवि निबद्धस्य वा वक्तु प्रौढ़ोक्तिमात्र निष्पन्न शरीर आचार्य मम्मट एव आचार्य विश्वनाथ के अनुसार उत्तम काव्य के कुल मिलाकर ५१ भेद माने हैं, किन्तु हमने पिछले अध्याय ५१ के स्थान में केवल ३७ भेद ही स्वीकारे हैं। वे य हैं —चार अविवक्षित वाच्य के भेद, छ असंलक्ष्य क्रम व्यग्य के भेद, दो शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यग्य के भेद, चौबीस अर्थ शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रम व्यग्य के भेद और एक उभय शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यग्य का भेद। हम अपनी भेद मा यता के समथन म पिछले अध्याय और इस अध्याय पर यथास्थान निवेदन कर चुके हैं। उसको दुहराने की आवश्यकता नही है।

अविवक्षित वाच्य ध्वनि और विवक्षित वाच्य के असंलक्ष्य क्रम व्यग्य के भेदों का सोदाहरण विवेचन किया जा चुका है। यहाँ पर संलक्ष्य क्रम व्यग्य के सत्ताईस भेदों का विवेचन प्रसग प्राप्त है।

संलक्ष्यक्रमव्यग्य के तीन भेद आचार्यों द्वारा स्वीकारे गय हैं —(१) शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्य क्रमव्यग्य (२) अथ शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्य ग्य, (३) उभय शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यग्य। आगे इनके भेदोपभेदो का सोदाहरण विवेचन किया जाता है।

जैसा पहले उल्लख हुआ है शब्द शक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रम व्यग्य म शब्द अनेकाथक ह ता है और उसके स्थान मे उसके पर्यायवाची अ य शब्द का प्रयोग नहीं हो सकता है। शब्द शक्ति स आक्षिप्त अलकार ही व्य ग्य होता है। इसके पद और वाक्य भेद से दो भद होते हैं —

शब्दशक्ति से अलकार ध्वनि यथा—

जाकी कर सब दिसन मे सोभ लहै द्विजराज।
रहे विष्णु ग्रह मे सुरुचि सुबहादुर महाराज॥[2]

कवि आश्रयदाता बहादुरसिंह महाराज की प्रशसा कर रहा है। राजरति प्रधान है। कवि को राजा का वणन ही अभीष्ट है। पर तु कर, द्विजराज आदि द्वयथक पदों के प्रयोग के कारण सूय के लिए भी अथ लगता है। पर तु सूय का अथ अप्रकरणिक है। सूय और राजा की उपमा नोपमेयता व्य ग्य है। काव्य प्रकाश और साहित्य दपण दोनो ग्र थो में श ब्द शक्त्युत्थ अलकार ध्वनि का उदाहरण आश्रयदाता की प्रशस्ति का ही है। इसका दूसरा उदाहरण भी राजरति प्रधान है।

हाटकपाट विचित्र बनावत याज गहे अरि बरिन मानौ।
गायन औ महिषी न जु राखत धारत है कुलकानि पिछानौ॥
बाधत सेर औ दान चुवावत औ गज को व्यवहारहि आनौ।
मोहरि दस सुलावै जहाँ हरि साहसु ऐसे जहान मे जानौ॥[3]

संलक्ष्यक्रमव्यग्य में शब्दशक्तिमूल के भ दो का उल्लेख हो चुका, आगे अथशक्तिमूल व्य ग्य के भेदो का उल्लख किया जा रहा है।

आचाय मम्मट और आचाय विश्वनाथ ने लोचनकार अभिनव के अनुसार अथ तीन प्रकार का स्वीकारा है (१) स्वत सम्भवी, (२) कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध और (३) कविनिबद्ध वक्त प्रौढ़ोक्तिसिद्ध। ध्व यालोककार ने अथ दो ही प्रकार का माना था। हाँ, उ होने वृत्ति भाग मे कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध को स्पष्ट करते हुए कवि प्रौढ़ोक्तिसिद्ध अथवा कविनिबद्धवक्त प्रौढ़ोक्तिसिद्ध पदो का

प्रयोग अवश्य किया है। किन्तु उनकी वृत्ति से यह बात भली भाँति स्पष्ट है कि वह दोनो को अलग अलग भेद न मानकर एक ही भेद स्वीकारते हैं। पण्डितराज ने मम्मट और विश्वनाथ की मान्यता का खण्डन करके ध्वन्यालोककार की मान्यता की पुनः स्थापना की हम भी ध्वन्यालोककार और पंडितराज की मान्यता को उचित मानते हैं।

इस प्रबन्ध की मान्यता के अनुसार अर्थ दो प्रकार का होता है (१) स्वतः सम्भवी और (२) कविप्रौढ़ोक्तिसिद्ध। काग काला होता है और हंस सफेद। कौए का कालापन और हंस की सफेदी स्वतः सम्भवी वस्तु है। किन्तु मुख चन्द्रमा के समान है वाक्य का तथ्य कौए के कालेपन और हंस की सफेदी की भाँति स्वतः सिद्ध नहीं है, वह कवियों की मान्यता भर है। यह कवि संसार की प्रसिद्ध है। फलतः यह अर्थ कवि प्रौढ़ोक्तिमात्र सिद्ध है। रीतिकालीन आचार्यदास ने अपने ग्रन्थ काव्य निर्णय में, इसका सुन्दर विवेचन किया है।

कहीं पर स्वतः सम्भवी अर्थ से वस्तु की व्यञ्जना होती है और कहीं पर अलंकार की और कहीं पर कविप्रौढोक्ति सिद्ध अर्थ से वस्तु और अलंकार की व्यञ्जना होती है। इस प्रकार अर्थ शक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यंग्य के चौबीस भेद हो गये।

(१) स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य, (२) स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकार व्यंग्य, (३) स्वतः सम्भवी अलंकार से वस्तु व्यंग्य (४) स्वतः सम्भवी अलंकार से अलंकार व्यंग्य। जिस प्रकार स्वतः सम्भवी अर्थशक्तिमूल व्यंग्य के चार भेद होते हैं उसी प्रकार कवि प्रौढोक्तिसिद्ध के भी चार भेद हुए। ये आठो भेद पुनः पद, वाक्य और प्रबन्ध की प्रकाशता के कारण चौबीस भेदों में परिणत होते हैं। आगे इन सभी के उदाहरण दिये जा रहे हैं।

स्वतः सम्भवी वस्तु से वस्तु व्यंग्य—

प्रलय करन बरसन लगे जुरि जलधर इक साथ।
सुरपति गर्व हर्यो हरषि गिरिधर गिरधर हाथ॥

यह किसी गोप की उक्ति है। 'सुरपति गर्व हर्यो' स्वतः सम्भवी वस्तु से व्रज की रक्षा वस्तु व्यंग्य है। सम्भव है कोई विद्वान यहाँ काव्यलिंग अलंकार स्वीकार करें। उसके सम्बन्ध में निवेदन है कि अलंकार तो प्रायः सभी स्थानों पर मिल सकते हैं परन्तु यहाँ अर्थ से ध्वनि है।

यह उदाहरण बिहारी से है—

सुरति न ताल रु तान की उठै न ठहराय।
ऐरी ! राग बिगारिगो बैरी बोल सुनाय॥

नायिका की अन्तरंग सखी की उक्ति है। नायक के बोल सुनते ही गान आरम्भ करने वाली नायिका का तान स्वर बिगड़ गया इस स्वतः सम्भवी वस्तु से नायिका की नायक के प्रति अगाध आसक्ति वस्तु व्यंग्य है। उदाहरण संगत चुना है।

स्वतः सम्भवी वस्तु से अलंकार यथा—

भूप बहादुर सो हिलखि नवै मुसक्कल जहान।
है सबही के सीस पर तेरो तेज भमान॥

इस उदाहरण की द्वितीय पंक्ति में भूप बहादुरसिंह की सूर्य से साथ समानता व्यंग्य है और प्रथम पंक्ति में 'नवै मुसकल जहान' इत्यादि स्वतः सम्भवी वस्तु से व्यतिरेक अलंकार व्यंग्य है।

शब्दार्थ शक्ति मूल सलक्ष्य क्रम व्यंग्य भी ध्वनि काव्य का एक भेद है। इसका उदाहरण नीचे दिया जाता है—

भावै तौलौं बसन सुहात है सुगंध तौलौं,
सुखनि की सुधि तौलौं हिय में हुस्यारी है।
सब सौं सिंगार हार विविध बिहार तौलौं,
संसारसार तौलौं फलति उज्यारी है।
सुकवि रतन अग लगी रँगीलो जौलौं,
सब छूटत छिनक छहराति सी अब्यारी है।
धाद चाल बारी प्रानपरतीति कारी कर,
सार की सवारी एक नारी जग प्यारी है। १

यह कवि की उक्ति है। यहाँ शब्द और अर्थ की विशेषता के कारण नारी (पत्नी) और नाड़ी में उपमा अलङ्कार व्यंग्य है। जहाँ एक प्राकरणिक अर्थ होगा वहाँ दूसरा अप्राकरणिक होगा। किसी के मरने पर यदि कहा जायगा तो नाडी वाला अर्थ प्राकरणिक और किसी नव दम्पत्ति को देखकर कहा जायगा तो दूसरा अर्थ प्राकरणिक।



३—गुणीभूत व्यंग्य-काव्य

[१]

पिछले अध्याय मे ध्वनि काव्य का उल्लेख किया जा चुका है। ध्वनि काव्य में व्यग्य की वाच्य से चमत्कार युक्त प्रधानता होती है।[1] उन शब्दों का प्रतिपाद्य विषय दो प्रकार का होता है वाच्य और व्यग्य।[2] व्यग्य भी दो प्रकार का होता है—प्रधान और अप्रधान। जहाँ व्यग्य का प्राधान्य होता है वहाँ उत्तम काव्य माना ही जाता है और जहाँ उसका अप्रधान्य होता है वहाँ गुणीभूत-व्यग्य काव्य की सज्ञा प्राप्त होती है। यह नाम आनन्दवधन का दिया हुआ है। ध्वनि की प्रतिष्ठा करने के पश्चात् भी जब आचाय को दिखाई पडा कि अब भी बहुत सी ऐसी रचनायें हैं जो चमत्कार-युक्त होने पर भी त्रिविध ध्वनि—रसध्वनि, वस्तुध्वनि, अलकार ध्वनि के विस्तृत क्षेत्र मे सन्निविष्ट नही हो सकीं तो आचाय ने व्यग्यार्थ के चमत्कार-तारतम्य की दृष्टि से काव्य के तीन भेद कर डाले १ ध्वनि-काव्य, २ गुणीभूत व्यग्य-काव्य और ३ चित्र काव्य,[3] ध्वनि का क्षेत्र तो विस्तृत है ही परन्तु गुणीभूत व्यग्य का भी क्षेत्र कम नही है हमारे विचार से चित्र काव्य का भी बहुत बडा अश इसी क्षेत्र मे सन्निविष्ट हो सकता है।

ध्वन्यालोक और लोचन में गुणीभूत व्यग्य का उस तारतम्य के साथ वणन नही है जिस तारतम्य के साथ काव्यप्रकाश में उपलब्ध होता है। यह निश्चित है कि गुणीभूतव्यग्य के आठो भेदो के सकेत ध्वन्यालोक में भी विद्यमान हैं और लोचन में तो वे सकेत ध्वन्यालोक की अपेक्षा स्फुटतर रूप में विद्यमान हैं यहाँ तक कि उनके भिन्न भिन्न नामो के सकेत भी उन दोनो में उपलब्ध हैं।[4]

[२]

साहित्य दपणकार विश्वनाथ ने मम्मट की ही सामग्री का उपयोग किया है।

मम्मट ने गुणीभूत व्यग्य के निम्नलिखित आठ भेद किये हैं—

अगूढ़, अपरांग, वाच्यसिद्ध्यग, अस्फुट, सन्दिग्ध प्राधान्य, तुल्य प्राधान्य, काक्वाक्षिप्त और असुन्दर।

---

१ वाच्यादतिशयिनि व्यङ्ग्ये—का० प्र० १/२

२ ध्वन्यालोक, पृ० २५२, पक्ति ७

३ ध्वन्यालोक, ३।३४ ३५ ४२ ४३

ध्वन्यालोक प्रधानगुणभावाभ्या व्यग्यस्यैव व्यवस्थिते। ध्वन्यालोक ३ ४२।

४ काव्यप्रकाश सविमश शशिकला टीका, पृ० १३८।

अगूढ़—व्यग्य सहृदयजन सवेद्य होता है। यह प्राय गूढ़ ही होता है। परन्तु व्यग्य की अधिक गूढ़ता और अधिक अगूढ़ता उसकी चारुता कम कर देती है। इसलिए इतना अधिक गूढ़ व्यग्य कि जिसको सहृदय भी न समझ सकें और इतना अधिक अगूढ़ अथवा स्पष्ट कि सर्वसाधारण भी समझलें गुणीभूत व्यग्य के क्षेत्र म ही आते हैं। जहाँ व्यग्य सहृदयजन संवेद्य भी नही होता वहाँ वह 'अस्फुट' माना जाता है, जहाँ वह सवसाधारण संवेद्य हो जाता है वहाँ स्फुट अथवा अगूढ़ माना जाता है।

आचाय मम्मट सु दर व्यग्य उसको स्वीकार करते हैं जो कामिनी कुच कलशवत् न तो अत्यन्त प्रकाशित और न अधिक निगूढ़ होता है। बालबोधिनीकार ने इस प्रकार के व्यङ्ग्य चमत्कार को स्पष्ट करने के लिए यह उद्धरण दिया है —

नान्ध्रीपयोधर इवातितरां प्रकाशो
नो गुजरीस्तन इवातितरां निगूढ़ ।
अर्थो गिरामपिहित पिहितश्च कश्चित्
सौभाग्यमेति मरहट्टवधूकुचाभ ।

काव्य का अत्यन्त स्पष्ट अथ तैलङ्गनारियों के खुले कुच द्वन्द्व की भाँति सहृदय के हृदय में आह्लाद उत्पन्न नहो करता और न गुजरीस्तनवत अत्यन्त निगूढ़ अथ भी आह्लादक होता है। अपितु महाराष्ट्र की नारियो के कुच की भाँति इन दोना के मध्य की स्थिति वाला व्यग्याथ अधिक मार्मिक होता है।

ध्वन्यालोककार ने सवप्रथम 'अगूढ़ नामक गुणीभूत व्यग्य की ओर ही सकेत किया है। 'अगूढ़' गुणीभूत व्यग्य का सम्बन्ध वस्तुमात्र की व्यङ्ग्यता से ही है। वस्तुमात्र की व्यग्यता का क्षेत्र सीमित है। इसके दो ही क्षेत्र हैं—प्रथम अविवाक्षितवाच्य ध्वनि का क्षेत्र और दूसरे सलक्ष्य क्रम व्यग्य में अथ शक्तिमूल वस्तुध्वनि का क्षेत्र। अविवाक्षितवाच्य ध्वनि मे केवल वस्तु की ही व्यजना होती है। काव्य प्रकाश म आचार्य मम्मट ने 'अगूढ़ गुणीभूत व्यङ्ग्य के तीन उदाहरण दिये हैं—(१) दो अविवाक्षितवाच्य ध्वनि क दो भेदों से सम्बन्धित और तीसरा अथ श द शक्तिमूल सलक्ष्य क्रम ध्वनि से सम्बन्धित वस्तु ध्वनि का। श दशक्तिमूल अलकार ध्वनि और अथ शक्तिमूल वस्तु से अलकार ध्वनि तो निश्चित ध्वनि क्षेत्रान्त पाती हैं। जसा कि आनन्दवधन ने स्पष्ट कह दिया है —

"जब वस्तुमात्र से अलकार की व्यञ्जना होगी तो वह निश्चित ध्वनि का विषय होगा। वहाँ गुणीभूत का प्रसग ही नही उठ सकता।"[3]

लक्षणा मूला ध्वनि के दो प्रमुख भेद हैं[4] अर्थान्तर सक्रमित और अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य।

---

१ तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य ध्व० लो० पृ० २५६
२ अर्थान्तर सक्रमित वाच्यमत्यन्त तिरस्कृत वाच्य परगत् शब्दार्थ शक्ति मूल सलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य चागूढ़ भवतीत भाव चन्द्रालोक की पौर्णमासी टीका, पृ० २६५
३ व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतय स्तदा ध्रुव ध्वन्यङ्गता तासा—ध्वन्या० २।३०
४ बाल बोधिनी, पृ० १९४

इन दोना भेदों मे जहाँ व्यग्य गूढ होता है वह ध्वनि का विषय है, केवल जहा व्यग्य अगूढ रहता है वही तन्नामक गुणीभूत व्यग्य का क्षेत्र है। दूसरे जहा रस ध्वनि होती है, वहा भी व्यग्य की अगूढता का प्रसग नही उठता हैं। कारस रस—भाव ध्वनि म रस भाव की प्रतीति विभावादि के अनुसधान से ही होती है। विभावादि का अनुसधान सवसाधारण वोध्यगम्य नही होता। रस-भाव की प्रतीति इसी विभावादि के अनुसधान के कारण अगूढ नही हो पाती।[1] शब्द शब्युत्थ अलकार ध्वनि से अगूढ का सम्बन्ध नही है। शब्द शक्ति मूलक अलकार ध्वनि मे प्रकृत वाच्यार्थ की प्रतीति का व्यवधान उपस्थित हो जाता है।[1]

शब्दाथ शब्युत्थ ध्वनि मे भी अगुढ व्यग्य का अवकाश नही है। यही बात काव्य प्रकाश के उद्योतकार ने भी स्वीकार की है।[2] अगूढ के इस सीमित क्षेत्र का सकेत ध्वन्यालोक, लोचन, चन्द्रालोक की पौणमासी टीका और काव्य प्रकाश मे है।

अगूढ़ का उदाहरण—

कचुकी सोंधें सनी सुबनी पहिरी चुनरी चटकीली सुरग सों।
वपन देखि 'कुमार' सरूप सिंगार सिंगारति प्रीति उमग सों॥
एक कही, करि हेलो हहा, यह पाव सही करि सोभ तरग सों।
राखति भूषन में रुचि रग तो लाल मिलाउरी सोने से अग सों॥[2]

यह सखी की नायक के प्रति उक्ति है। वह नायक को कञ्चनशरीरा किसी नायिका से मिलाना चाहती है जिसको 'लाल मिलाउँरी सोने से अग सो' कहकर अत्यन्त स्पष्ट कर दिया है। यह अर्थान्तरसक्रमित अगूढ व्यग्य का उदाहरण है। द्वितीय उदाहरण यह है —

बालक बैस के बानिक आजु बिलोकनि रचक नन अघात हैं।
पीत झगा अरु तसीये पाग समीप सखा छवि तों सरसात है।
खजन से दृग आनन चन्द लस शशिनाथ हिये हुलसात हैं।
कान्ह जसोमति के अगना मधिमाखन हाथ धरे मुसिक्यात हैं ?

वक्ता भक्त है। बालकृष्ण के लोकरजक स्वरूप को देखने से भक्त का प्रीति की तृप्ति नही होती है। यह 'नैन अघात' मे अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि से सवजन स्पष्ट है।

अत्यन्ततिरस्कृत अविवक्षित वाच्य का दूसरा उदाहरण—

बधु धधु अवलोकि तुव जानि परै सब ढग।
बीस बिसे यह वसुमती, जहे तेरे सग।

यह अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि की गौणता का उदाहरण है। यहा विपरीत लक्षणा का प्रसग है 'जैहे तेरे सग, से यह अय है कि न वह किमी के साथ गई है न तेरे साथ जायगी।

अत्यन्ततिरस्कृत का अन्य उदाहरण भी दृष्टव्य है —

पलक पीक अजन अधर धरै महावर भाल।
आजु मिले जु भली करी भले बने हो लाल॥

---

१ वही पृ० १६४

२ काव्य प्रकाश उद्योत—बालबोधिनी म उद्धृत, पृ० १६४

यह बिहारी कवि का दोहा है। यह खण्डिता की सापराध नायक के प्रति उक्ति है। यहाँ भली करी और 'भले बने हो' के विपरीत लक्षणा के द्वारा 'आपने अच्छा नहीं किया, आपने मेरे प्रति अपराध किया है। आपका यह रूप मुझे अत्यन्त कष्ट दे रहा है।' अर्थ स्पष्ट है यहाँ पर खंडिता का क्रोध सवजन सवेद्य है।

अपरांग विवेचन—वस्तुत काव्य म रस ध्वनि ही प्रधान होती है। ध्वनिवादी आचार्यों ने इसकी सर्वोत्कृष्टता ही केवल घोषित न की अपितु काव्य के अन्य अगो को भी रसादि सम्बन्ध से ही चमत्कार युक्त स्वीकार किया। ध्वन्यालोककार ने एक से अधिक स्थान पर रस ध्वनि को वस्तु और अलकार ध्वनि का भी जीवित स्वीकार किया है। मम्मट ने भी ध्वन्यालोक का ही अनुवतन करते हुए रस को काव्य का मुख्य अथ स्वीकार किया है।

रस मे प्रतीत्यात्मक उत्कृष्टता भी विद्यमान है। रस विवक्षित वाच्य ध्वनि का एक भेद है। रस भाव की प्रतीति मे बुद्धि का व्यवसाय पूर्णतया समाप्त हो जाता है। अविवक्षित वाच्य ध्वनि मे बुद्धि का व्यवसाय यथेष्ट मात्रा म विद्यमान रहता है। उसमें मुख्याथ बाध, तद्योग और प्रयोजन आदि का विमर्श बुद्धि व्यवसायजन्य है। फलत प्रयोजन फल की प्रतीति में कुछ समय लग जाता है और फल प्रतीति का आल्हाद आयाससाध्य होने के कारण निम्नकोटि का रहता है। उसे बुद्धितोष कहना ठीक है। सलक्ष्यक्रम विवक्षित-वाच्य में व्यग्याथ की प्रतीति में अविवक्षित वाच्य की अपेक्षा बुद्धि व्यवसाय कुछ कम अवश्य रहता है पर तु उसका थोडा बहुत अवकाश अवश्य बना रहता है। वाच्याथ बोध के उपरान्त व्यग्याथ बोध तक का क्रम स्पष्ट प्रतीत होता है। रस-बोध मे बुद्धि व्यवसाय प्राय शान्त सा जान पडता है। रस भाव रूप अथ वाच्य के साथ ही सा प्रतीत होता है। शब्द श्रवण के पश्चात् वाच्य का बोध होता है और वाच्य बोध के तुरन्त बाद ही रसादि अवभासित होते हैं। वाच्य बोध और रसादि प्रतीति मे क्रम अवश्य रहता है परन्तु उसकी प्रतीति नहीं होती इसलिए रसादि को असलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्य माना जाता है। इसलिए भी रसादि ध्वनि वस्तु एव अलकार ध्वनि की अपेक्षा उत्कृष्ट स्वीकार की जाती है।

रसादि ध्वनि की उत्कृष्टता का एक कारण और भी है। वस्तु ध्वनि अथवा अलकार ध्वनि के प्रत्येक उदाहरण में किसी न किसी रस अथवा भाव का सम्बन्ध अवश्य बना रहता है। रस भाव ध्वनि काव्य का प्राण है जिसकी सत्ता अनिवाय है। इसीलिए साहित्य दपणकार ने रस को काव्य की आत्मा स्वीकार कर लिया था। कहने का सारांश यह है कि रसादि ध्वनि उच्चकोटि का काव्य-चमत्कार है। इस चमत्कार के अभाव में का य को काव्य सज्ञा नही दी जा सकती है।

रस ध्वनि, वस्तु ध्वनि और अलकार ध्वनि की अपेक्षा एक अन्य दृष्टि से भी उत्कृष्ट है। रस ध्वनि वाच्यतासह होती है उसका वाच्याथ से कोई सम्बन्ध नही होता वह उससे नितान्त भिन्न होती है। वस्तु ध्वनि तथा अलकार ध्वनियो म वाच्यार्थ का योग बना रहता है। यह रस ध्वनि ही पाठक अथवा सामाजिक को सद्य परनिवृत्ति प्रदान करके आनन्दप्रदान करता है जो काव्य का सवमौलिभूत प्रयोजन है।

अलकारवादी आचाय और रसवत

ध्वनिवादियों से पूव अलकारवादियो ने रस की महत्ता को स्वीकार तो किया था परन्तु उन्होंने अलकार को काव्य का सवस्व माना। उन्होने काव्य के समस्त सौंदय को अलकार में

सन्निविष्ट करने की चेष्टा की । रस को भी अलकार नाम से अभिहित करके अलकार सीमा में धकेल दिया । इन अलकारवादियो में भामह, दण्डी, वामन और उद्भट का नाम उल्लेखनीय है । भामह और दण्डी ने रस और भाव को रसवत आदि अलकारो मे सम्मिलित कर लिया ।

- उद्भट् ने भी भामह् का अनुकरण किया है और भामह की मान्यताओ पर अपनी प्रतिभा की छाप लगादी है । ये सभी आचार्य रस को वह स्थान प्रदान न कर सके जो उसको बाद मे ध्वनिवादी आचार्यों द्वारा प्रदान किया गया । इसका प्रधान कारण यह था कि नाटय शास्त्र मे 'नाट्ये अष्टौ रसा स्मता' लिखकर महाकाव्य में मानो उसका निषेध कर दिया गया था । इसका प्रथम प्रतिवाद रुद्रभट्ट ने अपने शृंगार तिलक नामक ग्रन्थ मे किया । उसने स्पष्ट लिखा—नव काव्ये रसा स्मता' काव्य में नव रस स्वीकार किये जाते हैं । भामह, दण्डी, रुद्रभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य हैं । यद्यपि ये अलकारवादी आचार्य व्यग्यार्थयुक्त काव्य के चमत्कार से पूर्ण परिचित से जान पडते हैं तथापि वे उस अर्थ को अलकार से अधिक महत्ता न दे सके । उसमें नाट्य शास्त्र का का उपर्युक्त उल्लेख ही प्रमुख बाधक जान पडता है ।

भामह दण्डी और उद्भट तीनो आचार्यों ने रस, भाव रसाभास और भावाभास को क्रमश रसवत, प्रेयस्वत और ऊर्जस्वि अलकार नाम दिया है और आचार्य उद्भट ने भाव शान्ति को समाहित अलकार माना । भामह और दण्डी क समाहित से उद्भट का समाहित भिन्न है । इन तीनों आचार्यों मे भामह पहिले आचार्य हैं और शेष दोनों आचार्यो ने इनसे यथेष्ट प्रेरणा ली है परन्तु दण्डी और उद्भट का विवेचन भामह की अपेक्षा उत्तरोत्तर प्रबल है । अलकारा की परिभाषा निश्चित करने म उद्भट ने विशेष सूझ बूझ का परिचय दिया है । उद्भट द्वारा प्रतिपादित परिभाषायें अधिक स्पष्ट एव वज्ञानिक हैं ।

रसवत अलकार का लक्षण दण्डो ने अत्यन्त सक्षिप्त दिया है, रसवत रसपेशलम परन्तु उद्भट की परिभाषा मे रस के अवयवा का भी समावेश हो गया है वह इस प्रकार है—

रसवद्दर्शित स्पष्ट शृंगारादिरसादयम् ।
स्वशब्द स्थायि सचारि विभावाभिनया स्पदम् ।

उक्त परिभाषा मे स्थायी सचारी, विभाव और अभिनय के साथ स्वशब्द का भी उल्लेख है । जैसा इसी प्रसग मे अन्यत्र उल्लेख किया जा चुका है कि उद्भट के समय तक रस स्थिति नाटको तक ही सीमित थी । इसीलिए उद्भट ने इसमे अभिनय को ग्रहण कर लिया । रस निष्पत्ति में स्थायी, सचारी और विभावादि की स्थिति तो ध्वनिवादियो को भी मान्य है ।

रस निष्पति के लिए स्थायी और सचारी आदि की स्वशब्दवाच्यता उद्भट के समय में अनिवार्य रही होगी जैसाकि अनेक उदाहरणो से स्पष्ट है । ध्वनिवादियो के समय में रस, भाव आदि की स्वशब्दवाच्यता दोष मानी गयो । अलकारवादी आचार्यों ने रसवत अलकार वहाँ स्वीकार किया जहा वह अङ्गीभूत स्थिति में हो । इसके विपरीत ध्वनिवादियो ने रसवत अलकार वहाँ माना है जहा पर रसादि किसी अन्य रसादि अथवा वाक्यार्थीभूत वाच्य का अग बन गया हो ।

प्रेय अलकार की परिभाषा उद्भट ने यह दी है, जहा पर अनुभाव आदि के द्वारा इत्यादि स्थायी भावो का काव्य मे बन्धन होता है सज्जनों ने उसे प्रेय का उदाहरण स्वीकार किया हैं । कहने की आवश्यकता नही कि यहाँ पर अलकारवादिया का भाव का अङ्गी (प्रधान) होना स्वीकार है । इसके विपरीत ध्वनिवादी भाव की अङ्गता मे प्रेयस्वद् अलकार स्वीकार करते हैं ।

ऊर्जस्वि नामक अलकार के जो उदाहरण भामह और दण्डी द्वारा प्रस्तुत किये गये हैं उनसे प्रकट होता है कि य दोनों आचार्य इस अलकार का सम्ब ध ऊर्जस्वि वचनों के कथन से स्वीकार करते थे। परन्तु ऊर्जस्वि के लक्षण में उद्भट ने एक महत्वपूर्ण एव आवश्यक परिवतन कर दिया है। उन्होने अपने लक्षण मे स्पष्ट लिखा कि काम क्रोध आदि कारणा से अनौचित्य रूप से प्रवर्तित रसो और भावो का काव्य म निब धन ऊर्जस्वि कहाता है।[1] उद्भट के इस लक्षण में ध्वनिवादियों ने उतना ही परिवतन किया जो पिछले दोनों अलकारा रसवत और प्रेयस्वत् में किया था, अर्थात् उद्भट ने अङ्गीभूत रसाभास और भावाभास को ऊर्जस्वि अलकार स्वीकार किया। परन्तु ध्वनिवादियो ने अगभूत रसाभास और भावभास को ऊर्जस्वि माना।

समाहित अलकार के लक्षण और स्वरूप के सम्बन्ध म भी उद्भट और ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यताओं में वही अगीभूत और अगभूत वाला प्रधान अन्तर है।

उद्भट ने समाहित अलकार वहा स्वीकार किया है जहा रसभाव, रसाभास और भावाभास की शान्ति का ऐसा निबन्धन हो जिसमे अन्य किसी रस रसाभास आदि के अनुभावा की प्रतीति न हो।[2]

उद्भट आदि अगीभूत रसादि को अलकार मानते हुए भी चित्रालकारा से भिन्न मानते थे। हमारी इस धारणा की पुष्टि इस बात से और भी अधिक होती है कि—

उद्भट द्वारा प्रस्तुत द्वितीय उदात्त अलकार में उनके व्याख्याता प्रति हारेन्दुराज ने अगभूत रसादि को सम्मिलित किया है।[3] उनके इस कथन का अनुमोदन रुय्यक के अलकार सवस्व मे भी उपलब्ध है। उन्होने इस का अनुमोदन करते हुए लिखा है —

यत्र यस्मिन् दर्शने वाक्यार्थीभूता रसादयो रसवदाद्यलकारा ।
तत्रांगभूत रसादि विषये द्वितीय उदात्तालकार ॥[4]

कहने का तात्पय यह है कि अलकारवादियो को रसादि की दो स्थितिया स्पष्ट मान्य थीं (१) अगीभूत और (२) अगभूत। रसादि की अगीभूत स्थिति मे रसवत् आदि अलकार नाम दिया जाता था और अगभूत स्थिति को उदात्त अलकार मे सम्मिलित किया जाता था।

ध्वनि और रसवादी आचार्यों ने जब अगभूत-गौण रस आदि को गुणीभूत के अपरांग भेद के अतगत स्थान प्रदान कर दिया तो द्वितीय उदात्तालकार वाली धारणा भी समाप्त हो गयी। विश्वनाथ ने इसी तथ्य का उल्लेख किया है।[5]

ध्वनिकार से पूव की रसवद् मान्यता

ध्वनिकार से पूर्व रसवादि अलकारो के सम्ब ध म इस मा ˜ अतिरिक्त एक मान्यता

१—अनौचित्य प्रवताना कामक्रोधादि कारणात् ।
भावानां च रसाना च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते । का० सा० स,

२—रसभाव तदाभास वत ।

३ ९ न । का० सा० स०, ४१७

४—अलकार स

ग्रौर थी, जिसका उल्लेख ध्वनिकार ने पूर्व पक्ष के रूप म किया है। "जहा पर चेतन व्यक्तिया के वणन का प्राधाय होता है वहा रसवत ग्रलकार माना जाता है।

यह मायता किस विद्वान की है इसका कोई उल्लेख नही है। ध्वनिकार ने इस मायता का खण्डन निम्नलिखित ढग से किया है। प्रथम जहा जहा ग्रचेतन पदार्थों का वणन उपलब्ध होता है वहा वहा चेतन का सम्पक ग्रनिवार्य रूप से रहता ही है। यदि चेतन वणन म रसवत ग्रलकार मान लिया जाता है तो उपमादि ग्रलंकारो का विषय क्षेत्र ही समाप्त हो जाता है।[1]

ग्रनेक महाकवियो के ग्रचेतन पदार्थों के ग्रत्यन्त सरस वणन उपलब्ध हैं। यदि रसवत को केवल चेतन जीवन के वर्णन तक ही सीमित कर दिया जायगा तो ग्रचेतन पदार्थों के सभी वणन नीरस मानने पडेगे। ग्रचेतन जगत के वणन भी मानव भावना के ग्रारोप से ही रसपेशल हैं। यहाँ तक कि उपमादि के ग्रप्रस्तुत विधान म भी मानव भावनाग्रो ग्रौर चेष्टाग्रा का प्रयोग प्रचुर रूप से मिलता है।[2]

भामह, दण्डी, उद्भट ग्रौर ध्वनिकार की रसवत सम्बन्धी मायताग्रों के साथ इस उपयुक्त मायता का भी कुन्तक ने पूव पक्ष मे उल्लेख किया है।[3] इससे स्पष्ट है कि चेतन व्यक्तियो के भावपूण वर्णन सम्बन्धी रसवत की उपयुक्त मायता काव्यशास्त्र मे प्रमुख रही है, तमी तो ध्वनिकार ग्रौर वक्रोक्तिजीवितकार ने उसका पूवपक्ष म खण्डन करने के लिए उल्लेख किया है।

ध्वनिकार ग्रौर रसवत ग्रलकार—रसवत ग्रलकार के सम्बन्ध म ध्वनिकार की मायता का सार यह है। रसादि कभी भी ग्रलकार नहीं हो सकते वे तो ग्रलकाय हैं। जहाँ कही उन्हे ग्रलंकार माना जायगा वहा भी उस ग्रथ मे नही जिस ग्रथ म ग्रलकार माने जाते हैं। राजा किसी ग्रनुयायी सेवक के विवाह मे वर के पीछे पीछे चलता हुग्रा भी गौणत्व प्राप्त नहीं करता।[4] उन्होंने स्पष्ट कहा है—

"मेरी सम्मति में रसादि ग्रलकार काव्य म वहाँ पर माना जाना चाहिए जहाँ पर किसी ग्रय वाक्याथ की प्रधानता होने पर रसादि ग्रग हो।'[5]

ग्रभिनव गुप्त ग्रौर रसवत ग्रलकार—वस्तुत ग्रगभूत रसादि भी ग्रलकार्य है। ग्रलकार कसे माने जा सकते हैं। लोचनकार ग्रभिनव गुप्त ने इस प्रश्न का उत्तर देते हुए ध्वनिकार के मत का इस प्रकार समथन किया है —

"उपमादि ग्रलकारो म चन्द्र ग्रादि जिस प्रकार मुख ग्रादि को ग्रलङ्कृत करते हैं उसी प्रकार रसादि दूसरे रस ग्रथवा वस्तु को ग्रलङ्कृत कर सकते हैं। इसलिए चन्द्र ग्रादि की भाति रसादि को ग्रलकार कहने मे न कोई कठिनाई है ग्रौर न कोई विरोध है।

---

1 'यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलंकारस्य विषय इत्युच्यते।
तर्ह्युपमादीनां प्रविरलविषयतानिर्विषयता वाभिहिता स्यात्। ध्व०, पृ० ६१

2 ध्वन्यालोक पृ० ६२

3 वक्रोक्तिजीवित हिन्दी टीका, पृ० ३५३ ३५४

4 ध्वन्यालोक दीधिति, पृ० ३४७

5 प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः। ध्व० २।५

"इस पर यदि यह प्रश्न किया जाय कि रस किस प्रकार प्रस्तुत अर्थ को अलकृत करता है ? तो प्रश्नकर्त्ता से यह भी पूछा जा सकता है कि उपमा किस प्रकार प्रस्तुत अर्थ को अलकृत करती है ? यदि प्रश्नकर्त्ता पूछे गये प्रश्न का यह उत्तर देता है कि उपमा प्रस्तुत अर्थ के सदृश पदार्थ लाकर उसके सौन्दर्य एव प्रभाव को हृदयगम कराने में सहायता करती है। तो बस, यही उत्तर इस प्रसग मे स्वीकार किया जा सकता है कि रस भी गौरण रहकर प्रस्तुत प्रधान अर्थ को सरस बना देता है। इसमे अपनी सवेदना ही प्रमाण है।"

कुन्तक और रसवत अलकार—वक्रोक्तिजीवितकार आचार्य कुन्तक ने रसवत् की तीन मान्यताओ अलकारवादियों की मान्यता चेतन व्यक्तियों के वर्णनवाली मान्यता और ध्वनिकार की मान्यता को पूर्वपक्ष में रखकर तीनो का खण्डन किया है। कुन्तक ने रसवत की उपयुक्त मान्यताओ का विभिन्नरूप से खण्डन किया है। उन्होने अलकारवादियों भामह दण्डी और उद्भट की परिभाषाओ का उल्लेख किया है और रसवत् शब्द की व्याकरणिक निष्पत्ति के आधार पर अधिक ध्यान दिया है। इन आचार्यों की रसवत की मान्यता के अनुसार जो भी अलकार अपने रसात्मक सौन्दर्य से रस के समान ही सहृदय आह्लादकारी होता है उसे ही रसवत अलकार कहते हैं। भामह उद्भट आदि ने जो रसवत शब्द का प्रयोग किया है उसमें रस शब्द से मतुप् प्रत्यय स्वीकार न करके पाणिनि के 'तेन तुल्य० क्रिया चेद्वति' सूत्र से सादृश्यार्थक वति' प्रत्यय स्वीकार किया है।

कुन्तक ने 'रसवत्' के अपने समय तक के प्रचलित सभी लक्षणो का बौद्धिक खण्डन करने का प्रयत्न किया, परन्तु उन्होने 'रसवत्' की कोई नवीन स्थापना प्रस्तुत नही की। 'रसवत्' की उनकी व्याकरणिक व्याख्या से सुन्दर समाधान नही हुआ।

कुन्तक ने प्रेय, ऊर्जस्वी, समाहित अलकारो के प्राचीन लक्षणो की भी आलोचना की है। यह आलोचना भी प्राय खण्डन के लिये ही है। उनके स्थान पर उन्होंने कोई अपना सुझाव नही दिया है। "कुन्तक ने उपयुक्त सभी अलंकारो का रसवत् अलंकार की भाँति ही निषेध किया है। उनका एक सामान्य तर्क तो यही है कि रसपूर्ण कथन की भाँति प्रिय कथन अथवा ऊर्जस्वी कथन आदि उद्भट के अनुसार भाव, भावाभास, रसाभास तथा भाव शान्ति भी अलकार्य ही हैं, वे अलकार नहीं हो सकते। इसके अतिरिक्त प्रत्येक अलकार के विरुद्ध विशेष तर्क भी कुन्तक ने प्रस्तुत किये है उदाहरण के लिये दण्डी का 'प्रियत्तर आख्यान' व्याज स्तुति मात्र है, उद्भट का भाव कथन भी व्याज स्तुति आदि कोई अलकार हो सकता है। उनका ऊर्जस्वी तो किसी प्रकार मान्य नही हो सकता क्योकि अनौचित्य काव्य में सर्वथा अग्राह्य है"[1]

कुन्तक के पश्चात् कालक्रमानुसार मम्मट का समय है। परन्तु उनसे पहिले उनके परवर्ती विश्वनाथ और पण्डित राज की 'रसवत् की मान्यताओ का विवेचन किया जाता है क्योकि आलोच्य रीतिकालीन आचार्यों ने 'रसवत्' के सम्बन्ध में प्राय मम्मट का ही अनुसरण किया है।

रसवत् अलकार और विश्वनाथ

रसवत को विश्वनाथ ने चुपचाप गुणीभूत व्यग्य के अतिरिक्त व्यग्य के अन्तर्गत रख दिया

---

१ हिन्दी वक्रोक्तिजीवित की भूमिका, पृष्ठ १६०

है। उन्होंने कोई विशेष बात नहीं कही है। वस्तुत रस मे काव्यत्व स्वीकार करने वाले विश्वनाथ ने रस के गौण प्रसग को गुणीभूत व्यग्य के अतिरिक्त दूसरा नाम देना उचित न समझा।

रसवत् और पण्डितराज

पण्डितराज ने रसवत् के विवेचन म कई विवादो और विकल्पो की सक्षेप मे सूचना दी है जिनका यहाँ उल्लेख प्रसगत प्रतीत होता है। रसवत के सम्बन्ध म वह मम्मट के अनुयायी नही है, अपितु आन दवधन और अभिनवगुप्त के अनुयायी हैं। उन्होंने आनन्दवधन और अभिनवगुप्त के 'रसवत् सम्बन्धी सिद्धान्त को भी आँख बन्द करके स्वीकार नहीं कर लिया है, लेकिन उसकी बारीकियों का भी उद्घाटन किया है। इससे मम्मट की अरुचि के समाधान की भी सभावना भी वे प्रस्तुत करते हैं।[1]

मम्मट की रसवद् सम्बन्धी मान्यता

मम्मट ने 'रसवदलकार के स्थान मे 'अपराङ्ग' शब्द का प्रयोग किया है जो उचित है। काव्य मे प्रधान स्थान रखने वाला रस अप्रधान होने पर 'अपराङ्ग' दूसरे प्रधान का अङ्ग ही स्वीकार किया जायगा। आनन्दवधन ने 'रसवत' को अलकार्य होते हुए भी अलकार माना है; मम्मट को यह स्वीकार नहीं।[2] उन्होंने अलकार का यह लक्षण किया है

उपकुर्वन्ति त सन्त अगद्वारेण जातुचित।
हारादिवदलकारा।[3]

मम्मट के अनुसार अलकार वे ही हैं जो काव्य के शरीर शब्द अथवा अर्थ को सुशोभित करते हुए काव्य के अगीभूत (प्रधान) रस अथवा व्यग्य को उपकृत करते हैं। अलकार का यह लक्षण 'रसवत' अलकारो पर घटित नही होता है। गुणीभूतरसादि किसी शब्द अथवा अर्थ को उपमादि अलकारो की भाँति भूषित करते हुए किसी अन्य रसादि को उपकृत नहीं करते। इसीलिये कदाचित मम्मट को 'रसवदादि अलकार कहना उचित प्रतीत नही होता और यही कारण है कि मम्मट ने रसवदादि को न तो दशम उल्लास म अलकारो के साथ रखा और न उनका रसवदादि' नाम के अन्तगत विवेचन ही किया। उनको गुणीभूतव्यग्य मानकर उसका अपराङ्ग नामक भेद स्वीकार किया है। ध्वनि की दृष्टि से मम्मट का पक्ष सगत है।

अपराङ्ग 'गुणीभूत व्यग्य के मम्मट सम्मत दो रूप हैं, (१) अपर रसादि का अग अन्य रस, (२) वाक्यार्थी भूत (प्रधान) वाच्य के प्रति अनुरणन रूप व्यग्य की अगता।

इनम से प्रथम रूप के निम्नलिखित सात प्रकार हो सकते हैं —

१—किसी अगीभूत रस अथवा भाव के प्रति रस की अगता।

२—अगीभूत भाव के प्रति भाव अथवा रस की अगता।

---

१ रसगगाधर का शास्त्रीय अध्ययन, पृष्ठ ३०२

२ काव्यप्रकाश की बाल बोधिनी टीका, पृष्ठ २०१। टीकाकार वामन झलकीकर ने अनेक टीकाकारो के मतों का उल्लेख करके सिद्ध कर दिया है कि मम्मट को 'रसवदादि का अलकारत्व मान्य नही है।

३ काव्यप्रकाश, पृष्ठ ८-८

३—अगीभूत भाव के प्रति रसाभास और भावाभास की अगता।
४—अगीभूत भाव के प्रति भावशांति की अगता।
५—अगीभूत भाव के प्रति भावोदय की अगता।
६—अगीभूत भाव के प्रति भाव सन्धि की अगता।
७—अगीभूत भाव के प्रति भाव शबलता की अगता।

१—किसी अगीभूत रस अथवा भाव के प्रति रस की अगता का उदाहरण।

'सपनो है ससार यह रहत न जान कोइ।
मन मिलि पिय भावति करौ कालिह कहा धौं होइ।

२—यहां शान्त रस श्रृङ्गार का अग है। मानिनी नायिका से नायक अथवा दूती की उक्ति है। अपराग के इसी रूप का अन्य उदाहरण —

हाय यहै मीडत कुचनि, मनि मुदरी उजियार।
यह रसना गुन कचुकी नीबी-खोलन हार॥

इसमें श्रृङ्गार रस करुण रस का अग होकर चित्रित है। यह काव्य प्रकाश के रसवत के उदाहरण का अनुवाद है। अगीभूत रस के प्रति अन्य रस की अगता के कुछ अन्य उदाहरण —

३—अद्भुत रसवत् अलकार का वर्णन —

जाहि दावानल पान किये तें बढ़ी हिय में सरबी सरदेसो।
बास अघासुर जोर हर्यो जु लर्यो बतसासुर से बरदेसों॥
बूड़त राखि लियो गिरि लै ब्रज देश पुरन्दर बेदरदे सों।
ईस हमें पर दे परदेसौं मिलौं उड़ि ता हरि सों परदेसो॥

यह छन्द किसी विरहिणी की उक्ति है। छन्द की प्रथम तीन पक्तियो मे हरि के विस्मयकारी कार्य-कलाप का उल्लेख होने से अद्भुत रस की व्यजना होती है। परन्तु विरहिणी का मन्तव्य हरि के अद्भुत स्वरूप की व्यजना कराना नही है अपितु वह उस लोक विस्मयकारी अद्भुत पुरुष से परदेश मे गुप्त रूप से मिलने के लिये व्यग्र है। यहा अद्भुत रस श्रृङ्गार का अग है।

४—भयानक रसवत का उदाहरण—

भूल्यो भिर भ्रमजाल में जीव के ख्याल की ख्याल में फूल्यो फिर है।
भूत सु पांच लगे मजबूत है सांच थवत है नाच नचहै॥
कान मे भानुरेदास कहीं कों नहीं तो तहीं मनहो पछितहैं।
काम के तेज निकाम तप बिन राम जपें विसराम न पहैं॥

इस छन्द की प्रथम दो पक्तियों और चौथी आधी पक्ति में ससार के भ्रम-जाल म जीव का बधना और पाचभौतिक शरीर म उसको आस्था आदि का उल्लेख करके ससार के प्रति भय जाग्रत किया गया है। तीसरी पक्ति एव चौथी पक्ति के 'बिन राम जपें विसराम न पैहैं' से शान्त रस की व्यजना है। यहां पर शान्त ही प्रधान है और भयानक रस उसका अग है। इस अपराग का एक रूप और है—भाव के प्रति रस की अगता उसका उदाहरण यह है।

कासी में बासु कर सुमिर शिव को शिवलोकनि ऊपर जहे।
भूल हू तू जो चितहै इत जम भाजत हु कहूँ ठौरन पहे॥
काल को काल सरूप सखें जम को जम है हमे जोति न लहे।
प्रान पयान समै निहचै भव जु भवतारक तारक दैहै॥

प्रेयस्वत् अलंकार भी 'अपरांग' गुणीभूत व्यग्य का भेद है। इसके भी दो रूप सम्भव हैं? अगीभूत रस के प्रति भाव की अगता और अगीभूत भाव के प्रति भाव की अगता। इसमें प्रथम भेद असमीचीन एव अव्यावहारिक है। कारण अगीभूत रस के अविरोधी भाव उसके परिपाक मे सहायक होकर अग होते हैं। रौद्ररस मे गर्वभाव सर्वदा सचारी के रूप में अग बनकर रहता है। रस की परिपक्वावस्था मे उत्तम काव्य होगा। अगीभूत रस के विरोधी भाव उसके परिपाक में बाधक होंगे, यथा शृङ्गार मे जुगुप्सा। फलत इसका द्वितीय रूप ही व्यावहारिक है।

जो प जाइ रहै मेरु मदर की कदर तो,
घेऊ राखि सक न सुनत धाक नाम के।
लोकालोक लगु लगु लागन न पाव कहूँ,
बेई पाइ गहियँ पहार छोडि मान के।
होहि जो अलच्छि तो न देव कोउ अच्छु,
नेक होत ही समच्छ ह्व है घन के न धामके,
फेरत हैं अच्छ बिन नीर जैसे मच्छ,
ऐसे यन बन गाहत विपच्छ फिरै रामके॥

यहा बरियों की चिन्ता राजरति भाव ध्वनि का अग है —

इसी का दूसरा उदाहरण यह है —

दीह दरीभत बेहद बारिद बागबनी औ नदी नद नारे।
भूपन के दल भारे घरे धरकी न धरा थीन तेरे करारे॥
मैं विसम बसते वसुधा बर बानीन के गुन गाय पसारे।
तौलौ नरेश फतेश की बाहैं करी मन मे पुनि बैन निबारे॥

यहा पर कवि की भूमि विषयक प्रीति आश्रयदाता विषयक प्रीति का अग है।

ऊर्जस्वि में दो रूप हो सकते हैं। रसाभास भाव का अग और भावाभास भाव का अग। प्रथम रूप का उदाहरण नीचे दिया जा रहा है —

इक चुबत इक गहत इक आलिंगत भरि बाँह।
तुव बैरनि की बाम बन भ्रमत फिरत बिन नाँह॥

उपर्युक्त दोहे मे एक ही शत्रु नारी के प्रति अनेक जेता सनिकों का चुम्बन और आलिंगन आदि वर्णित है। यह शृङ्गाराभास है जो राजविषयक रतिभाव का अग है। विषय की दृष्टि से उदाहरण मम्मट सम्मत है। मम्मट के उदाहरण मे आश्रय दाता राजा के सनिक राजा के पराजित शत्रु के सामने उसकी नारियो के प्रति विभिन्न काम चेष्टाओं का प्रदर्शन करते हैं।

इसी का दूसरा उदाहरण भी अवलोकनीय है।

३—दारिद विदारिबे को प्रभु के प्रयास तो,
हमारे यहाँ अनगन दारिद की खान है।
अध की सिकारी जो है बजीरे तिहारी तो हो,
तन मन पूरन अघनि राख्यो ठानि है।

दास निज सपति मुसाहिब के काज आए,
होत हरषित पूरो भाग उनमानि है।
आपनो बिपत्ति को हजूर हो करत लखि,
रावरे की बिपत्ति बिदारन की बानि है।

यह किसी भक्त की अपने इष्ट देव के प्रति उक्ति है। वह कहता है 'हे देव यदि आप को नष्ट करने के लिए दारिद्र की आवश्यकता है तो मेरे पास दारिद्रय का भण्डार है, और यदि आपकी दृष्टि पाप' का शिकार करना चाहती है तो मैंने पापो से अपना तन मन पूण कर रखा है। मेरा तो यह बडा सौभाग्य और हप का अवसर होगा कि मेरी कोई भी सम्पति मेरे स्वामी के काम आवे। मैं तो वास्तव म आपकी विपत्ति विदारण की प्रवृत्ति देख कर ही विपत्तियों को एकत्र किये रहता हू।'

भक्त अपने इष्टदेव को यह कहकर कि मैं दारिद्रय, पाप और सकटो से घिरा हुआ हूँ अपनी दीनता को प्रकट कर रहा है, परन्तु कथन पद्धति से यह जान पडता है मानो वह अपना सवस्व अपने प्रभु की इच्छा की पूर्ति के लिए देन को प्रस्तुत है। भक्त का दान देने में उत्साह दिखाना दानवीर का रसाभास है, यह उसकी दीनता का अङ्ग है। यहाँ रसाभास भाव का अङ्ग है।

ऊजस्वि के दूसरे रूप म भावाभास भाव के अङ्ग होते हैं। इसका उदाहरण यह है

रामसिंह कर खग्ग लखि अरिगन अधिक अधीर।
सजत सार साजत नहीं सूर बीर दृग नीर॥

शूरो का अधीर होना दृग से नीर बहाना 'त्रास' नामक भावाभास है जो यहा पर राज विषयक रतिभाव का अङ्ग है।

ऊजस्वि का दूसरा उदाहरण यह है

सहज सिकार चढ़ें महाराज रामचन्द्र
प्रलै घोर घन से निसान गरजत हैं।
कहै परताप मुनि तिनके कठोर घोर
जोर दिगपालन के हिये लरजत हैं।
मिले एक ठौर उपदेस येक येकन को
कोशियो न बर एक एक बरजत हैं।
रावरे सरासन के त्रासन सा सूर घोर
दृगन के नीर नये नद से रचत हैं।

आश्रयदाता की वीरता की प्रशसा है। राजरति प्रधान भाव है। शत्रु-पक्ष के शूरवीरो का नेत्रो से नीर बहाना चिन्ता त्रास आदि भावाभास हैं। ये राजरति के अङ्ग हैं। उदाहरण लक्षण सम्मत है।

समाहित मे भाव के प्रति भाव शान्ति की अङ्गता रहती है।

इसका उदाहरण यह है

गरजि गरजि डरपावत पातक मदहि बढ़ाइ।
जात न जाने कित गये देखत कसोराइ॥

उपर्युक्त दोहे में देव विषयक रतिभाव के प्रति पातको के गर्व भाव की शान्ति की अङ्गता है

इसका दूसरा उदाहरण यह है

पील पपरत गाजे दुंदुभी अनेक बाजे
सुभट समाज साजै ताजी सेज धाइ कै।
अम्बर गरद मढ़ै बन्दी बिरदनि पढ़ै
ढाढ़ी करखनि रढ़ चढ़े चोप धाइ कै॥
आगे नेजबाजनि आराब की आबाजनि सो
सिंघ की गराजनि गरूर भरे आइ कै।
फतेपति साह तेरे सामुहें समर अरिन की
कीरति होति जती के सुभाइ कै॥

फतेहसाह की सुव्यवस्थित सेना के सम्मुख उसके शत्रुओं के सभी उत्साह शान्त हो जाते हैं। आश्रयदाता विषयक कवि की प्रीति अङ्गीभूत भाव है। शत्रुओ की उत्साह-शान्ति उसका अङ्ग है। भाव के प्रति भावोदय की अङ्गता का उदाहरण

अरिगन निजु मन्दिर रमत युवतिन सग सुभाइ
रामरूप लखि चित्रहूँ उठत गिरत भहराइ॥

प्रस्तुत दोहे में राजा विषयक रति के प्रति शत्रुओं के 'त्रास' भाव के उदय की अङ्गता का चित्रण है। इसपर काव्यप्रकाश के तत्सम्बन्धी उदाहरण की छाया है।

इसका एक अन्य उदाहरण यह है

साह फते सुनिये बसुधाधिप,
अरिन के बर को अधिकाई।
साजि समाज जलूस अजेज भरें
चरचा चहुँधां की चलाई॥
आवेगी साह फते करि दच्छिन
काहू करी सुलतान बडाई।
बाक बिचार सक कहि को भ्रम
तेरे ममयो ज्यो सो अथाई॥

यहाँ पर कवि-गत आश्रयदाता राजा की प्रीति अङ्गीभूत भाव है। शत्रुओ म त्रास अथवा आवेग भाव का उदय उस राजा विषयक अङ्गीभूत प्रीतिभाव का अङ्ग है। यहा भावोदय अलकार है।

भाव के प्रति भाव सन्धि की अङ्गता, यथा

रामसिंह दुंदुभि सुनत खलभल बरनि धाम।
पिय मिलिबो अरु भाजिबो करो बिकल अतिबाम॥

प्रस्तुत दोहे मे राजविषयक रति के प्रति शत्रुओं की नारियों के प्रियमिलन के प्रति औत्सुक्य भाव और आश्रयदाता के कारण 'त्रास भाव' की सन्धि की अङ्गता का उल्लेख है।

इसका दूसरा उदाहरण यह है

कुसुमतें कोमल कलेवर कु वरि गौरि तप सों
कठोर जामे थावरो थकत हैं।
देखत दयाल के दुखियत दीन वधुहर में—
हो दास तेरो कहिबे को उचकत है॥
ऊपते पियूष ते मधुर मधु दाप हूं ते
सुबनीन भरमबस रस हूं छकत हैं।
आइके उतावरे गिरीन गिरिजा के ढिग
सह्यो न सकत कछु कह्यो सकत है॥

कविगत देवी गिरिजा विषयक भक्ति-श्रद्धा अङ्गीभूत भाव है। इसम सव चपलता और व्रीडा की सधि अङ्ग है। उदाहरण शास्त्र सम्मत है।

भाव के प्रति भाव सबलता की अङ्गता

पुलकित मन अरु झलक दृग आनद उमग अपार।
भक्तन के उर होत हैं, सुमिरत नन्द कुमार॥

प्रस्तुत दोहे मे देव विषयक रति के ध्वनि भक्तो की भाव सबलता अङ्ग रूप में चित्रित

अपरांग के दूसरे रूप मे वाक्यार्थीभूत वाच्य के प्रति सलक्ष्यक्रमव्यग्य भी अ सकता है। इसका उदाहरण यह है

राति बितै किलहू बिरह बिकल कमा
परसन करत प्रभात ही पावन सरिस पतगै रग।

प्रस्तुत दोहे में विरह कमलिनी पावन आदि शब्द परिवृत्यसह हैं। इनसे प्र अन्यानुरक्त नायक के खण्डिता प्रति व्यवहार की अभिव्यक्ति हो रही थी। परन्तु 'सरिस' प्रयोग से पतंग और नायक का उपमेयोपमान भाव वाच्य हो गया। यही वाच्य अङ्गीभू

उपयुक्त शब्द शक्तमूल सलक्ष्यक्रमव्यग्य इसी वाच्य का अङ्ग हो गया। यह अपर द्वितीय रूप का उदाहरण है। दोहे पर काव्यप्रकाश की छाया है।

वाच्य सिध्यग।

काव्य में जहां व्यग्य वाक्यार्थीभूत वाच्यार्थ को सिद्धि म योगदान करके अप्रधानता स्थिति में स्थित रहता है यहाँ वाच्यासिध्यग गुणीभूतव्यग्य होता है।

मम्मट ने वाच्यसिद्धयग गुणीभूत के दो उदाहरण दिये हैं और उसके एक वक्तृगत भिन्न वक्तृगत दो भेद स्वीकार किये हैं।[1] इनमे एक भिन्नता और प्रतीत होती है जिसका का प्रकाशकार ने उल्लेख नही किया है। एक उदाहरण में शब्द शक्तिमूल व्यग्य है और दूसरे में शक्ति मूल व्यग्य।

---

१ एतच्चैक वक्तृगतत्वेन अपरत्र भिन्न वक्तृगतत्वेनेत्यनयोर्भेद ।

मम्मट का उदाहरण इस प्रकार है।

अभिमरति मल सहृदयतां प्रलय मूर्च्छांतम शरीरसादम।
मरण च जलदभुजगज प्रसह्य कुरुते विष वियोगिनीनाम।

'मेघ रूपी भुजा से उत्पन्न विष बलपूर्वक वियोगिनियों को भ्रमि, अरति, अलस, यना, अ धकार नरीर दुबलता और मरण भी उत्पन्न करता है।' वक्ता कवि मेघ को भुजग सिद्ध करना चाहता है। उसके मन्तव्य की सिद्धि जल और हालाहल का अर्थ देने वाला विष शब्द करता है। विष मेघ के सम्ब ध म जल के अर्थ म नियन्त्रित हो जाता पर जलद के सम्बन्ध मे हालाहल का अर्थ भी देता है। इस उदाहरण म, जलद भुजग का रूपकत्व द्वयर्थक विष पद के प्रयोग द्वारा सम्भव बनता है, मम्मट के इस उदाहरण की छाया दास के निम्नलिखित उदाहरण म है।

बरषाकाल न लाल गृह गौन करो केहि हेतु।
व्याल बलाहक विष बरसि, बिरहिनि को जिय लेतु।।

यह एक वक्तृगत वाच्यसिध्यग गुणीभूत व्यग्य का उदाहरण है। यह किसी व्यभिचारिणी की सन्ध्या समय आये जार के प्रति उक्ति है। वह कहती है कि इस समय वर्षा काल है, पति घर में नहीं है आप भी जाने के इच्छुक जान पडते हैं, मेघ रूपी सर्प विष की वर्षा करके विरहिणियों के प्राणों के ग्राहक हो रहे हैं। मम्मट के उदाहरण की भांति यहाँ पर भी 'विष' द्वयर्थक पद है।

इसका दूसरा उदाहरण यह है

वृषभ वाहिनो अग उर वासुकि लसत नवीन।
शिव सँग सोहै सवदा शिवा कि राय प्रवीन।।

उदाहरण मे यदि शिव पार्वती पद का उल्लेख न होता तो 'राय प्रवीन' की समानता पार्वती से व्यग्य होती। परन्तु शिवा के उल्लेख से वाच्यार्थ मुख्य हो गया और व्यग्य उसकी सिद्धि का अग बन गया।

एक वक्तृगत वाच्यसिद्ध्यग गुणीभूत व्यग्य का एक अन्य उदाहरण।

जीवन सोषन जेठ को, पूरण के विधु बीर।
उयो प्रयानो अब कहा, उपचारन की भीर।।

नायिका की अतरग सखी वक्ता है। नायिका का सम्पर्क जेठ मे है। सखी पति आगमन की सूचना दे रही है कि विधु बीर उदित हुआ। इस वाच्य की सिद्धि में 'जीवन सोषन जेठ को' का व्यग्यार्थ कि अब जेठ को कष्ट हो गया इसकी सिद्धि म सहायक है।

मिश्र वक्तृगत वाच्यसिध्यग का उदाहरण—

तेरे देखिबे को मेरो लाल तरसत,
महारूप रस बांध्यो ताको तू न दरसनि है।
यह सुनि बाल जोरी उत्तर को देन लागी,
घाइ धरी सासु बात कम निवहनि है।।

हलो जो कहति तो तो नेह न रहत
अरु नेह के कहे जे सासु डाटति दहति है।
सेनापति याते निठुराई ते कहत,
बलिहार करौं ताहि जाहि लाल तू कहति है॥

नायिका के पास दूती नायक का सन्देश लेकर पहुँची है उसने लाल का सन्देश देना प्रारम्भ किया था कि नायिका को सास पहुँच गई। उसकी उपस्थिति म नायिका सीधा वाच्यार्थपरक उत्तर न दे सकी उसने व्यंग्य का सहारा लिया। उसके कथन का लाल पद द्वयर्थक है। उसका व्यंग्य वाच्यार्थ का पोषक है।

अस्फुट

ध्वन्यालोककार ने अस्फुट व्यंग्य के सम्बन्ध मे लिखा था जहाँ प्रतीयमान अर्थ अक्लिष्टता अथवा अगता से प्रतीत होता है उसका ध्वनि मे अन्तर्भाव सम्भव नही है। वह अस्फुट गुणीभूत व्यंग्य का विषय है। "दो प्रकार के प्रतीयमान स्फुट और अस्फुट–म जो स्फुट प्रतीयमान शब्दशक्ति अथवा अर्थ शक्ति से प्रकट होता है वही ध्वनि है अन्य नही।[1]

व्यंग्य की सत्ता तो है परन्तु उसकी प्रतीति सरलता से नही होती है उसका काव्यप्रकाशकार ने भी गुणीभूत व्यंग्य म सम्मिलित किया है और ध्वन्यालोक के उपयुक्त प्रसङ्ग के अनुसार हो उसका नाम है अस्फुट का उदाहरण यह है —

अस्फुट का उदाहरण यह है।

अगन साजि सिंगार सब निज मदिर त पिय-पास सिधारी।
रूप अनूप निहारत भूपर कामकला छवि ऊपर वारी।
मजुल सी न हँस बिहँस हुलस बिलस सुख पुंजन प्यारी।
बाँह गहे भयो अग रोमचित कपित गात ससकित भारी।

नायिका अभिसारिका है। स्वय कामोत्सुका होकर प्रिय से मिलने के लिए सहट गई है। स्वत जाने से मुग्धा नहीं है, तब कपित और सशकित होने का विशेष कारण दिखलाई नही पडता चिन्तनोपरान्त किलकिंचित हाव व्यंग्य होता है।

सन्दिग्ध प्राधान्य विवेचन—गुणीभूत व्यंग्य मे काव्यात्मा ध्वनि गौण हो जाता है। उसकी गौणता के कारण ही उसकी गणना मध्यमकाव्य मे की जाती है। सन्दिग्ध प्राधान्य नामक मध्यम काव्य में न तो व्यंग्य ही पूर्ण गौणता प्राप्त कर पाता है और न वाच्य ही निश्चित प्रधानता प्राप्त करता है, और न दोनो की प्रधानता यहो निश्चित रूप से समान हो पाती है। इस भेद म और तुल्य प्राधान्य में केवल यही अन्तर है कि इसम व्यंग्य और वाच्य की तुल्य प्रधानता का निश्चय नही हो पाता, जबकि दूसरे (तुल्यप्राधान्य) मे तुल्य प्रधानता का निश्चय होना है। दो व्यंग्यार्थों की प्रधानता में सन्देह का प्रश्न यहा उपस्थित नही होता है।

इसका उदाहरण यह है

१—यत्र प्रतीयमानोऽर्थ प्रक्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्या सौ गोचरो ध्वने। ध्व० २ ३२

ससत हसत से दोह दृग विहसत विमल कपोल।
चद मुखी मुख चन्द लखि, नन्द नदन चित लोल॥

नायिका नायक के समक्ष उपस्थित है। उसके सुन्दर और प्रसन्न चन्द्र मुख को देखने भर के लिए नायक का चित्त चचल है। यह वाच्यार्थ प्रधान है अथवा उस चन्द्रमुख का चुम्बन करने के लिए चचल है यह व्यंग्यार्थ प्रधान है इसमें सन्देह है। दोहे पर काव्य प्रकाश की छाया है।

तुल्यप्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य

तुल्य प्राधान्य नामक गुणीभूत व्यंग्य मे वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ की निश्चित समानता होती है, इसीलिये इसे तुल्यप्राधान्य नाम दिया गया है। सदिग्ध प्राधान्य और तुल्य प्राधान्य मे यही अन्तर है।

तुल्य प्राधान्य गुणीभूत का उदाहरण यह है

भले रूप गुन जाल को ख्याल पसारत लाल?
खजन ननिनि के बंधत दृग-खजन इहि हाल॥

कवि द्रष्टा अथवा दूती की उक्ति है। 'आपके हृदयग्राही रूप को देखकर परम सुन्दरी नारियाँ भी मुग्ध हो जाती हैं। इस व्यंग्यार्थ की भी उतनी ही प्रधानता है जितनी वाच्यार्थ की। इस दोहे का वाच्यार्थ भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। यह तुल्य प्राधान्य गुणीभूत व्यंग्य का शास्त्रानुकूल उदाहरण है।

गुणीभूत व्यंग्य का आक्षिप्त व्यंग्य और काव्य ध्वनि का अन्तर।

व्यंग्य आक्षिप्त ही होता है। काक्वाक्षिप्त व्यंग्य मे कण्ठध्वनि (काकु) से भङ्गि विशेष से कहने पर व्यंग्य का तुरन्त बोध होता है। उत्तम काव्य मे काक्वाक्षिप्त व्यंग्य का समावेश होता है और मध्यम काव्य में भी। तब यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि वह कौन सा काक्वाक्षिप्त व्यंग्य है जिसके समावेश से काव्य उत्तम कोटि मे परिणित होता है और वह कौन सा है जिसके समावेश से मध्यम कोटि मे। दोनो व्यंग्यो की आक्षिप्तता मे क्या अन्तर है? जहाँ प्रश्न मात्र से ही काक्वाक्षिप्त व्यंग्य की प्रतीति होती है वहाँ काकु की प्रधानता होती है वहाँ उत्तम काव्य माना जाता है।[1] जहाँ शब्द शक्ति ही काकु की सहायता से व्यंग्य बोधन मे समर्थ होती है वहाँ गुणीभूत व्यंग्य माना जाता है। इसका उदाहरण यह है

प्रेमरस पूरन पियूषहि पछलि क्यौं जु
जोग ज्वाल झलि अलवेलीपन डाहेंगी।
सोमनाथ तिहें कसे भावत विभूति जटा
जिनकी गुविंद मिलि सेली मन साहेंगी।
चरम को माला लै बिछाई मृगछाला साधि
प्रानायाम त्रिकुटी सहेली सग चाहेंगी।
चेली ह्वै तिहारी हम ऊधो कहा सेलो डारी
कचन की बेलो-सी अकेली बन गाहेंगी।

असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य

असुन्दर गुणीभूत व्यंग्य में वाच्यार्थ व्यंग्य की प्रधानता और चमत्कारयुक्त होता है। व्यंग्य की अपेक्षा वाच्यार्थ चमत्कारयुक्त होने पर भी असुन्दर होने के कारण ही कदाचित इसको असुन्दर नाम दिया गया है।

मुख पियरी देखे हरी हरी डार कर लीन।
लेति उसासनि सांत प्रति सिथिल अंग मनु धीन।

नायक पूर्व निश्चयानुसार सहेट पर पहुंचा तो नायिका न मिली। वह उस कुंज की एक हरी डाली तोडकर नायिका के घर पहुंचा। नायक को हरी डाल सहित देखकर नायिका का मुख पीला पड गया। मैंने वचन भंग किया अथवा मैं सहेट पर पूर्व निश्चय के अनुसार न पहुँची यह व्यंग्य है। असुन्दर का यह संगत उदाहरण है। इस पर काव्य प्रकाश के उदाहरण की छाया है।

